बच्चन एक पहेली

(बच्चन काव्य का समीक्षात्मक परिचय)

चन्द्रदेव सिंह



हिन्दी प्रचारक प्रकाशन
सी० के० ३८।८ आदि विश्वनाथ
वाराणसी–२२१००१

प्रथम संस्करण—१९६८

११००

द्वितीय संस्करण—१९७३



मूल्य : १५,००

प्रकाशक :
ओमप्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक प्रकाशन
सी० के ३८/८ आदिविश्वनाथ
वाराणसी—२२१००१

मुद्रक :
पारिजात प्रेस
रामकटोरा
वाराणसी २२१००१

ंत्रालय, भार [illegible] की ओर से सं

डा० हरिवंशराय बच्चन की,

षष्ठिपूर्ति के

शुभ अवसर पर

सादर !

२७ नवम्बर १९६७

बूझ दुनिया यह पहेली,
जान कुछ मुझको सकेगी ?

—मधुकलश



छप चुकीं मेरी किताबें पूरबी औ'
पच्छिमी - दोनों तरह के अक्षरों में,
औ' सुने भी जा चुके हैं भाव मेरे
देश औ' परदेश - दोनों के स्वरों में,
पर खुशी से नाचने को पाँव मेरे
उस समय तक हैं नहीं तैयार; जब तक
गीत अपना मैं नहीं सुनता किसी
गंगो - जमुन के तीर फिरते बावले से

—बच्चन

क्रम

०



पहेली क्यों ?

और बच्चन के काव्य-व्यक्तित्व की स्वरूप-कल्पना के साथ ही मुझे स्मरण आ रही हैं कुछ पंक्तियाँ—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आज से २२-२३ वर्ष पूर्व अपनी प्रथम समीक्षा पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के विज्ञप्ति-खंड में लिखा है—"बच्चन जी के सम्बन्ध में यहाँ अधिक कहना उचित न होगा। नई भाषा, नई अभिव्यंजना और नये किस्म की अनुभूति—उनका सब कुछ नया ही नया है।" इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३१ पर कविवर अंचल के संदर्भ में बच्चन से तुलना करते हुये वाजपेयी जी ने लिखा है—"अंचल में छायावादी शैली का परित्याग नहीं था, पर बच्चन सारा ढाँचा बदल कर आये थे।"

और बच्चन की यही नवीनता-प्रियता आज तक पहेली बनी हुयी है। आरम्भ में नयी भाषा, नयी अनुभूति और नवीन शिल्प ने यदि तत्कालीन पाठकों-समीक्षकों को चमत्कृत कर पहेली की सृष्टि की तो क्या आज वह पहेली अनसुलझी नहीं रह गयी है? और क्या नवीनता प्रत्येक युग में एक अवधि तक पहेली का पर्याय नहीं रही है?? और क्या इस पहेली की निरन्तरता का कारण बच्चन की निरन्तर परिवर्तित काव्य-चेतना, भावना-धारा नहीं है???

मधुशाला में बैठकर, 'बने रहो ऐ पीने वालो, बनी रहे यह मधुशाला' का गान करते हुये कवि को लोगों ने यदि शराबी और शराब का पैरोकार—प्रचारक मान लिया तो क्या वह धारणा अस्वाभाविक थी? पर किसी ने कवि के निकट पहुँचकर कब इस तथ्य को जानने की कोशिश की कि वह शराब छूता तक नहीं, पीना तो दूर। और यह मदिरा-मादकता का उद्घोष उसकी तत्कालीन वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय स्थितियों की प्रतिक्रिया का प्रतिफलन था। वह गाता रहा और लोग उसके सम्बन्ध में विभिन्न पहेलियों की सृष्टि करते रहे।

छायावाद के चरम उत्कर्ष की अवधि में 'प्रिय' और 'प्रियतम' से मुख मोड़ कर वह मस्ती का सन्देश देता रहा। प्रगतिवाद की मार्क्सवादी विचार-

धारा को लेकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र में हलचल मचा देने वाले अरुण-केतन धारियों के हो-हल्ले के बीच वह समाज और देश-विदेश के दुख-दर्द, आशा-अवसाद को भुलाकर प्रिया के अवसान पर आँसू बहाता रहा। एक ओर देश की स्वाधीनता के लिये संघर्ष चलता रहा, सत्याग्रह और स्वदेशी का प्रचार होता रहा और वह दूसरी ओर चिता की राख लिये कभी अपनी मुट्ठियों को तथा कभी आसमान की ओर देखता रहा। लोग आते-जाते रहे, वह किनारे पर बैठा, सब कुछ से अलग, चारों ओर से तटस्थ अपने आप में लीन, आत्मकेन्द्रित रहा।

और एक दिन अचानक चिता की सँजोयी हुई राख को बहाकर, जब उसने अपने हाथों को मलकर धो लिया तब भी देखने वालों ने आश्चर्य ही व्यक्त किया, क्योंकि तब भी वह सड़क पर नहीं, किनारे की एक वृक्ष-छाया में ही बैठा रहा। देश के भीतर स्वाधीनता का संग्राम उसी परम्परागत गति से चलता रहा और देश के बाहर विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक परिवर्तन होते रहे। अन्तर केवल इतना था कि पहले की अन्धकार-ग्रस्त छाया-सीमा अब एक मन्द दीप के प्रकाश से झिलमिला उठी थी। हवायें अब भी आती रहीं, आस-पास की चीख-पुकार अब भी वह सुनता रहा, किन्तु चारों ओर खिंच गई लक्ष्मण-रेखा से बाहर निकलने की इच्छाओं को दबाकर। बहुत हुआ तो जोर-जोर से चिल्ला कर कह दिया—

कल सुधारूँगा हुई संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल
आज तो कह दो कि मेरा बन्द शयनागार
सुमुखि! ये अभिसार के पल, चल करें अभिसार!

और लोगों के लिये वह आश्चर्य तथा रहस्य का साधन बना रहा। [आज तो इन्हें दीन-दुनिया से कोई मतलब नहीं, अपने आप में उलझे हुये हैं, पता नहीं कल कौन-सा कमाल कर देंगे?] मगर, उसने कभी किसी व्यक्ति या समूह की प्रतिक्रियाओं की चिन्ता ही नहीं की।

जब प्रगतिवाद की काव्य चेतना को सामयिक नारेबाजी सिद्ध करते हुये नयी काव्य पीढ़ी प्रयोगवाद का नया झंडा लेकर आयी तब भी वह अपनी सीमा में ही दुबका रहा। जुलूस गुजरते, तो लोग थोड़ी देर रुककर उसकी कुटिया की ओर भी झाँक लेते। कुछ तो उसकी ओर उपेक्षा से देखते और कुछ आश्चर्य-मिश्रित ईर्ष्या से, कि आखिर बिना झंडे और विज्ञापन के

इसकी कुटिया के आस-पास इतने अधिक लोग क्यों कर एकत्र हैं। इसी बीच कुछ राष्ट्रीय घटनाओं, दुर्घटनाओं को भी उसने सहानुभूति और संवेदना दी। यथा बंगाल के अकाल और महात्मा गांधी की हत्या को अनसुनी नहीं कर पाया।

और समय की गति कब मंद पड़ी। युग और युगजनित स्थितियाँ अब उसे भी प्रभावित करने लगीं। एकाकीपन और एकान्त व्यक्तिवाद की सीमा से बाहर आकर जब उसने युग और समाज को देखा, देश-विदेश की परिस्थितियों से परिचित होने का प्रयत्न किया तो पुनः उसे क्षोभ और आक्रोश ही मिला। देश के स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में गला फाड़कर चिल्लाने वालों के स्वर और विचारों की जब उसे स्मृति आई और जब उसको उन उद्घोषकों की वर्तमान मनःस्थिति का दर्शन-अनुभव हुआ, तब तो वह पुनः चिन्ताओं में डूब गया। एक ओर स्वाधीनता-पूर्व के आश्वासन, जनता को दिये गये वचन और दूसरी ओर जनता की वही दुर्व्यवस्था। न तो आश्वासनों का कोई यथार्थ रूप और न तो प्रतिज्ञाओं का कोई अनुकूल चित्र। जनता दूध खोज लाने की प्रतिज्ञा करने वाले कवि की प्रतीक्षा करती रही—"वत्स, वत्स ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं, स्वर्ग लूटने हम जाते हैं"—दिनकर। और कवि झंडे को तकिये का गिलाफ बनाकर चैन से उर्वशी के कजरारे नयनों की कल्पना में सोता रहा।

× × ×

यहीं बच्चन के कवि को स्मरण आता है कि उसने कभी मिलन-यामिनी की घड़ियों में भी विश्वास के साथ, अन्याय के प्रतिकूल भुजा उठाने और युग-जीवन में व्याप्त भूलों को सुधारने की प्रतिज्ञा की थी। और वह चैतन्य हो उठता है। पर अब तो वह यहाँ भी अकेला ही है। जब तक वह किनारे खड़ा राजमार्ग से दूर आने-जाने वालों को देख-देखकर अपने में ही सीमित रहा है तब भी अकेला और जब आज खुद झंडा उठा कर जन-गण के बीच राजपथ से चल रहा है तब भी अकेला। राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना से सम्पन्न कहे जाने वाले कवियों ने स्वाधीनता के पश्चात् शंख और मृदंग को दूर फेंक कर सारंगी को अपना लिया है और प्राप्ति-सुख में ऐसे डूब गये हैं कि जनता और युग की कोई स्मृति ही शेष नहीं।

राष्ट्रीय कहे जाने वाले कवि स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् झंडे फेंक-कर किनारे खड़े हो जाते हैं और जनता की ओर मुड़कर कह जाते हैं—'मंजिल

तक पहुँचा दिया, अब आगे तुम जानो।' और बच्चन स्वाधीनता के पश्चात् ही जनता के निकट आते हैं। इस बार उनके हाथों में न तो सागर है और न जाम, न तो रजनीगन्धा की माला है उनके गले में और न कोई प्रणय-पत्रिका, बल्कि वही झंडा है जिसे फेंक कर लोग सड़क से हट गये हैं। झंडा वही है पर उसका रंग कुछ भिन्न है उस पर अंकित संकेत नये हैं। यहाँ जनता भी बच्चन को इस नये रूप में देखकर आश्चर्य करती है और किनारे से झाँक लेने वाले राष्ट्रीय खेमे के रचनाकार भी आश्चर्यमिश्रित ईर्ष्या ही व्यक्त करते हैं।

और जब बच्चन चलते हैं तो आस-पास के लोग फुसफुसाते हैं, 'अरे यह वही तो है ! जो केवल पीने-पिलाने की सलाह देता था, अरे वही तो जिसके लिए उसकी प्रणय-सीमा ही सब कुछ थी ?' और तभी कोई जोर से कहता है—'इतना ही नहीं यह वही है जिसने कभी कहा था—"मनुज-पराजय के स्मारक हैं मठ-मस्जिद-गिरजाघर," और आज भले खँजड़ी इसके हाथ में न हो पर बड़ा ही आत्म-विभोर होकर गाता है—'प्रभु मन्दिर यह देहरी !' या "काम जो तुमने कराया कर गया, जो कुछ कहाया कह गया।" और सभी आश्चर्य में डूबे हैं।

तभी एक व्यक्ति खड़ा होकर चिल्ला पड़ता है—'तुम लोग इसके पिछले जीवन को भूल जाओ।' स्वतन्त्रता के पश्चात देश की यथार्थ स्थिति को व्यक्त करने वाला आज यह अकेला व्यक्ति है। जिस आत्म विश्वास के साथ इसने अपने वैयक्तिक सुख-दुख-आशा-निराशा का उद्घोष किया था आज उसी आत्म शक्ति निर्भीकता और निश्छलता के साथ युग-जीवन को वाणी दे रहा है। देश में फैले भ्रष्टाचार, अनाचार और अन्याय के लिये इसने सम्बन्धित तत्वों को कड़े शब्दों में फटकारा ही नहीं है, वरन् उनके विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का भी प्रयत्न कर रहा है। स्वतन्त्रता की चौदहवीं वर्ष गाँठ पर व्यंग्य के साथ इसने चिल्ला-चिल्ला कर शासकों की निष्क्रियता और योजनाओं की निरर्थकता सिद्ध करते हुए कहा है—

आज चार हजार
साढ़े चार सौ से तीस ऊपर
दिवस बीते रेंगते
संदेश पर गणतंत्र दिन का
बीस मील नहीं गया है।

—त्रिभंगिमा

स्वार्थी और कामचोर नेताओं की ओर संकेत कर गत स्वाधीनता संग्राम को सिन्धु-मंथन की-सी महत्व पूर्ण स्थिति मानते हुये इसने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा है—

लेकिन जिन्होंने
शोर आगे से मचाया
पूँछ पीछे से हिलाई,
वही खीस-निपोर,
काम-छिछोर दानव
सिन्धु के सब रत्न-धन को
आज खुलकर भोगते हैं।

बात है यह और
उनके कंठ में जा
अमृत मद में बदलता है,
और वे पागल नशे में
हद, हया, मरजाद
मिट्टी में मिलाकर
नाच नंगा नाचते हैं।

—त्रिभंगिमा

यही नहीं ऐसे ही नेताओं और समाज-विरोधी तत्वों को प्रलम्बासुर का अवतार या कुटुम्बी मानकर वह देश के किसानों को जागृत करने का प्रयत्न करता है, ताकि वे अपनी परम्परागत जड़ता से मुक्त होकर ऐसे तत्वों को मिटा देने में जुट जाय। यदि ऐसा नहीं हुआ तो सारी उपलब्धि इन्हीं प्रलम्बासुरों के हाथों में संचित होती जायगी और देश का साधारण नागरिक अपने अधिकारों से निरन्तर वंचित रहेगा। क्योंकि फल तो आज भी ऊपर से गिरता ही है पर धरती पर पहुँच कहाँ पाता है—

आज भी आकाश से गिरता बहुत है,
किन्तु धरती पर पहुँच पाता कहाँ है?
यह प्रलम्बासुर
अदृश्य भुजा उठाकर
बीच में ही लोक लेता,

लोक अपने स्वत्व से
वंचित, बुभुक्षित,
हाथ वामन के गगन में मारता
पर कुछ न उसके हाथ आता।

× ×

यह प्रलम्बासुर मरेगा
जब कि शक्ति समेत हलधर जन्म लेंगे।

—त्रिभंगिमा

युग के ऐसे दृश्य—चित्रों, युग की ऐसी ही विकृतियों को देखकर उसे मार्ग-दर्शकों, जन-नायकों पर, उनकी निष्ठा और ईमानदारी पर संदेह होने लगता है। उसे सब के सब एक ही रंग में डूबे हुए लगते हैं। इसीलिए ऐसे अवसर पर उसे दुर्वासा ऋषि का क्रोध स्मरण हो आता है—

अनदेखा, अनसुना किए सब,
कोई नेता-संत नहीं अब,
दुर्वासा के स्वर में गरजे, 'अरे, ठहर बदमाश!'
अकारण ही मैं नहीं उदास।

—त्रिभंगिमा

और अब फिर मुझे याद आ रही है आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की २२-२३ वर्ष पूर्व की वह पंक्ति कि 'बच्चन का सब कुछ नया ही नया है।' और यहीं अन्य अनेक समीक्षकों की घोषणाएँ। एक ओर वाजपेयी जी और डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी बड़े विश्वास के साथ घोषित करते हैं कि 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' बच्चन की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।[1] दूसरी

---

१. "अनुभूति के क्षेत्र में बच्चन की-सी गहराई छायावादी कवियों में कम मिलेगी।......बच्चन की वास्तविक कविता 'एकान्त संगीत' और 'निशा निमंत्रण' में ही मिलती है।" आधुनिक साहित्य पृष्ठ १३ वाजपेयी जी।

१. "यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'निशा निमंत्रण' तथा 'एकान्त संगीत' के पश्चात् बच्चन की काव्य प्रतिभा को विकास की उचित दिशा सम्भवतः नहीं मिल सकी है।" आलोचना, काव्यालोचन विशेषांक, रामस्वरूप चतुर्वेदी पृष्ठ १९०।

और श्री विजयदेव नारायण साही का विचार है—'न जाने क्यों बच्चन के 'मधुकलश' की चर्चा उतनी नहीं हुई, जितनी उनकी मधुशाला, निशा-निमंत्रण और एकान्त संगीत की। न सिर्फ उस पुस्तक में उस युग की काव्यात्मक अनुभूति का काफी बड़ा खजाना है, बल्कि उस काल की काव्यात्मक समस्याओं की कुञ्जी भी है, जिसके बगैर उस युग को नहीं समझा जा सकता। यों, भी, मेरी समझ में हिन्दी की लम्बी कविताओं में—जिनमें शुरू से आखिर तक काव्य-गुण समान रूप से वर्तमान हों—मधु कलश की कविताएँ बेजोड़ हैं।" [नयी कविता, संयुक्तांक ५-६, पृष्ठ ८८] किसी को मधुशाला कालीन रचनाएँ प्रिय और उत्कृष्ट काव्य का उदाहरण लगती हैं, तो किसी को कोई और, किसी को कोई और। डा० रामविलास शर्मा 'सतरंगिनी' से तुष्ट हैं, तो किसी को नवीनतम काव्य-संकलन बच्चन की वास्तविक काव्य-प्रतिभा का परिचय देते हैं।

एक ओर हिन्दी-समीक्षकों की, ऐसी; वैयक्तिक रुचि की परिचायक घोषणाएँ और दूसरी ओर कवि की अपनी प्रतिक्रिया! पता नहीं बच्चन को हिन्दी-समीक्षा की इस स्थिति का परिचय अपने कवि जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही कैसे मिल गया था, जब उन्होंने कहा था—

बूझ दुनिया यह पहेली,
जान कुछ मुझको सकेगी ?

—मधुकलश

और सचमुच आज भी बच्चन का जीवन और काव्य 'पहेली' ही बने हुये हैं। जिस 'मधुशाला' के प्रतीकों और उसकी प्रेरणा से चिढ़कर श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने बच्चन को 'हालावाज' की उपाधि से विभूषित करते हुये हर सम्भव प्रयत्न किया था कि कवि को बदनाम करें, उसी 'मधुशाला' के प्रभाव और प्रसार की चर्चा करते हुए श्री विजयदेव नारायण साही उत्साह के साथ उल्लेख करते हैं—"कहते हैं कि किसी समय देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' लिखकर हजारों [लाखों] लोगों को उर्दू छोड़कर हिन्दी पढ़ने को विवश कर दिया था। कविता में यदि उस क्रान्ति का कोई जोड़ है तो वह

निशा निमंत्रण तथा एकान्त संगीत के सम्बन्ध में बिना किसी अत्युक्ति के यह कहा जा सकता है कि उनकी कुछ त्रयोदश पदियाँ संसार के श्रेष्ठतम गीति साहित्य के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

रामस्वरूप चतुर्वेदी, आलोचना, काव्यालोचन विशेषांक पृष्ठ १९४

बच्चन की 'मधुशाला' है। अधिक से अधिक पाठकों को सामयिक कविता का चस्का लगाने का श्रेय जितना अकेले बच्चन को है, उतना किसी अन्य कवि को नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।" [नयी कविता संयुक्तांक ६५-पृष्ठ ८३]

एक ओर बच्चन का कार्य, हिन्दी काव्य के पाठक तैयार करने की दिशा में स्मरणीय है, तो दूसरी ओर गीति-काव्य के शिल्प-सौष्ठव को पूर्णता के विन्दु तक पहुँचाने की महत् सफलता के लिये। कुछ समीक्षक मिलन-यामिनी कालीन कविताओं से प्रसन्नता का अनुभव करते हैं कि कवि निराशा और अवसाद की घाटियों से तो उवर गया और कुछ 'त्रिभंगिमा' तथा 'चार खेमे चौंसठ खूटे' की युग-समस्याओं के प्रति व्यक्त भावनाओं को ही बच्चन का सफल स्वर मानते हैं।

समीक्षकों द्वारा व्यक्त इन भ्रमपूर्ण विचारों का कारण खोजा जाय तो लगेगा कि बच्चन ने काव्य को युग और जीवन की अभिव्यक्ति माना है, जब कि समालोचकों ने उनके काव्य का विवेचन सिद्धान्तों के आधार पर किया है। समीक्षक सिद्धान्त के चश्मे से जीवन को देखने के अभ्यासी रहे हैं और बच्चन का कवि जीवन को, मान्य सिद्धान्तों से अधिक महत्वपूर्ण मानता रहा है। डा० नगेन्द्र ही नहीं; वरन् श्रीरामस्वरूव चतुर्वेदी भी मानते हैं कि हिन्दी के समीक्षकों ने बच्चन के काव्य का यथोचित मूल्यांकन नहीं किया है।

बच्चन जव अपनी काव्य-यात्रा के सन्दर्भ में समीक्षकों की प्रतिक्रियाओं का स्मरण करते हैं तो अनायास उवल पड़ते हैं—" आज जो ऐसी वातें कह रहे हैं उन्हीं के वाप-चाचों ने जब 'मधुशाला' निकली थी तो कहा था, मह मस्ती का राग अलापने का युग नहीं है, 'निशा-निमन्त्रण' निकला तो कहा था, यह रोदन-क्रन्दन का युग नहीं है 'सतरंगिनी' निकली तो कहा था यह प्रेम का तराना उठाने का समय नहीं है, और उनके बेटों-भतीजों ने 'प्रणय-पत्रिका' निकली तो कहा, यह तो वीते युग की बातें हैं।" (आरती और अंगारे पृष्ठ १६) और ऐसी ही पहेलियाँ बच्चन के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी बनायी तथा बुझायी गयी हैं। यहाँ, मेरा सम्बन्ध कवि-जीवन के मात्र उसी रूप से है जो उसकी रचनाओं के द्वारा पाठकों तक पहुँचा है। बच्चन शाकाहारी हैं या मांसाहारी, बच्चन आस्तिक हैं या नास्तिक, बच्चन की रुचि देश-विदेश की किस राजनीतिक पार्टी में है, बच्चन कब भोजन करते हैं या कब लिखते हैं या लिखते हैं तो किस कलम या पेंसिल से, उसका रंग

कैसा है और वह कहाँ की बनी हुई है; बच्चन पीते हैं या नहीं और ऐसी अन्य अनेक पहेलियाँ साहित्य के पाठक और समीक्षक के लिये अर्थहीन हैं।

बच्चन के काव्य का सही परिचय; उनके जीवन और जीवन के प्रति दृष्टिकोण से चल सकता है, साहित्य और कला के किसी सिद्धान्त से नहीं। 'बोझ सिर पर कंठ में स्वर' या 'मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया' जैसा घोषित करने वाले की पहचान तो तत्कालीन जीवन और परिवेश से ही हो सकती है। इसी प्रकार बच्चन के काव्य से उनके जीवन तथा युग विशेष का भी एक सहज चित्र सामने उभर आता है। यह अलग बात है कि सहजता भी किसी के लिए पहेली का पर्याय बन जाय। और जब सहजता, स्पष्टता भी रहस्यमय बना दी जायगी तो यथार्थ कहाँ तक यथार्थ रह जायगा, यह बड़ी सरलता से जाना जा सकता है।

किन्तु पहेली अब भी कहाँ सुलझती है? पहेली ही तो है कि बच्चन स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में विरह और विछोह का रोना रोते रहे और विदेश मंत्रालय की आराम कुर्सी पर बैठकर देश के करोड़ों नंगे-भूखों के दुख और विषाद को अपनी पीड़ा बनाये रहे! नदी में रह कर मगर से वैर करने का जोखिम बच्चन ने जीवन और साहित्य दोनों में उठाया है और आज भी जोखिम उठाने से भयभीत नहीं हैं। शायद इसी लिए उनका व्यक्तित्व जीवन्त है, कृतित्व जीवन्त हैं। वे मानते भी हैं कि हर जीवन्त व्यक्तित्व और कृतित्व के पक्ष और विपक्ष में बोलने वाले होते हैं, निर्जीव की उपेक्षा ही होती है।

× × ×

यहाँ मेरा अभिप्राय; प्रस्तुत पुस्तक को न तो पहेली बनाना है और न समाधान उपस्थित करने का साधन। मैंने तो, एक पाठक की दृष्टि से बच्चन के काव्य-व्यक्तित्व के प्रति अपने पर पड़ने वाले प्रभाव को ही व्यक्त किया है, यद्यपि आग्रह, पूर्वाग्रह या दुराग्रह ग्रस्त होकर नहीं। साथ ही इस विश्वास के साथ कि समाधान प्रस्तुत करने का दायित्व तो समीक्षकों का है, मेरे जैसे सामान्य पाठक का नहीं।

७-एफ, गोपी मंडल लेन
कलकत्ता-२

—चन्द्रदेव सिंह

छायावादोत्तर हिन्दी कविता और बच्चन

एक

छायावाद के साथ कवियों की एक ऐसी पीढ़ी हिन्दी-काव्य-साहित्य को मिली थी जिससे खड़ी बोली, पहली बार, सफल काव्य-रचना का माध्यम बनी। छायावाद द्विवेदी-युगीन गद्यात्मकता की प्रतिक्रिया का प्रतिफलन था। वह स्थूल सौन्दर्य से इतर सूक्ष्म सौन्दर्य दर्शन को ही काव्य का उद्देश्य बनाये रहा। यद्यपि यह सच है, कि छायावाद एक विशेष राष्ट्रीय चेतना का स्वर होते हुए भी अपनी मूल प्रवृत्तियों के लिए कभी भी प्रशंसा न प्राप्त कर जीवन के भावनात्मक पक्ष का पुष्टिकारक ही कहलाता रह गया। चाहे जो भी हो, चाहे कोई भी वाद या भावना-धारा क्यों न हो, बिना किसी आत्मानुभूति के, नारों के साथ स्वरालाप करने का जो परिणाम होता है पिछले तीन दशक के अनेक हिन्दी कवियों के साथ भी वही हुआ है।

छायावाद की परिष्कृत परिमार्जित भाषा की लाक्षणिकता, प्रतीक-विधान और कोमल-पद-विन्यास की मोहकता ने दो दशकों तक के हिन्दी कवियों को आकर्षित किया। किन्तु इन कवियों का कथ्य भावनात्मक और वायवी अधिक था जीवन से उद्‌भूत कम। इसीलिए जब कहने को कुछ नहीं रह गया तो अनेक कवि मौन हो गये या बहुत हुआ तो उसी कोमल-कान्त-पदावली में वेद मंत्रों का हिन्दी अनुवाद शुरू किया, अथवा नाटक या साहित्य की दूसरी विधाओं की ओर मुड़ गये। यहीं जो जीवन्त थे, जिन्हें युग को नयी वाणी और नया आलोक-पथ देना था, उन्होंने अपनी भावना के साथ अपनी शैली में भी परिवर्तन किया और आज भी वे अपने उद्देश्य-मार्ग पर बढ़ते जा रहे हैं।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता को दो शब्दों में जीवन-काव्य कह सकते हैं। यद्यपि इस जीवन-काव्य की आधारभूमि भी दो विरोधी विचार-शिविरों में बँटो है एक है वैयक्तिक जीवनानुभूति की अभिव्यक्ति और दूसरी सामाजिक चेतना की।

सामाजिक चेतना को भी समीक्षकों के विशेष वर्गों ने विशेष नामों से अभिहित किया है, जिसके पीछे भावना राष्ट्रीय कम, राजनीतिक अधिक है।

छायावाद के उत्कर्ष काल में ही सन् १९३१ के आस-पास नई कवि-पीढ़ी ने छायावादी भाषा का परित्याग कर दिया था। छायावाद की अस्पष्टता का मूल वे उसकी कल्पना-प्रधान अस्पष्ट भाषा को ही मानते थे। इसीलिए उन्होंने सहज भाषा के द्वारा जीवनगत स्थितियों का सरल वर्णन किया जो तत्कालीन जनता के लिए अधिक बोधगम्य था।

साहित्य की कोई भी नई धारा नयी भाषा और नया शिल्प-संस्कार लेकर आती है। छायावाद के पश्चात् की हिन्दी कविता में भी जितने नये मोड़ आये भाषा को अधिक-से-अधिक जीवन के निकट लाने का प्रयत्न दिखाई देता।

छायावाद की पीठ पर जिस 'वाद' विशेष की स्थापना की जाती है वह भी एक सामयिक नारा भर ही था। सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ के जन्म के साथ ही प्रगतिवाद का ऐसा उद्घोष हुआ कि सारी काव्य-चेतना प्रगति की गति में योग देते-देते दुर्गति को पहुँच गई। परन्तु सन् '३६ के पूर्व ही जबकि छायावाद निराशा और पतनोन्मुख दिशा की ओर बढ़ रहा था, एक सशक्त काव्य-चेतना जन्म ले चुकी थी। इस नयी चेतना को व्यक्तिवाद, वैयक्तिक अहं का विस्फोट और इसी प्रकार कई नामों से पुकारा गया है। नाम का मोह छोड़ दें, तो इस वैयक्तिक काव्य-चेतना में जीवन और यौवन का बड़ा ही कुशल चित्रण हुआ, यद्यपि इस धारा के कवियों में भी अधिकाधिक मन बहलाव के लिए ही आ गये थे, क्योंकि प्रगतिवादी डुगडुगी के साथ उन्होंने भी अपनी-अपनी खिड़कियाँ खोलीं और 'जिन्दावाद' का स्वर आकाश भर में गुंजा दिया।

सुनो साथियो, अम्मरीका के शहर शिकागो की है बात

—नरेन्द्र शर्मा

ऐसे कवि अपनी अन्तर्मुखी काव्य-साधना के लिए बदनाम हो चुके थे। क्योंकि प्रगतिवाद-आन्दोलन में कवियों से अधिक संख्या समीक्षकों की थी और वे किसी को, किसी समय, प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी कुछ भी कह सकते थे। यहीं दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस राजनीतिक प्रभाव ने और तो चाहे जो कुछ किया हो अनेक शक्तिशाली कवियों का बलिदान तो लिया ही जो मुख्यतः कवि थे और जिन्हें इस प्रभाव में आकर चारणों जैसा विरुदावली उच्चारण का कार्य सम्पादित करना पड़ा। यद्यपि यह विरुदावली किसी राजा या नवाब की नहीं थी; ऐसे व्यक्ति-मानव की थी जो युगों-युगों से अपने अधिकारों से वंचित था।

प्रगतिशील विचारधारा ने हिन्दी काव्य को उत्कर्ष की ओर भले न बढ़ाया हो; परन्तु उसने मार्क्स के भौतिकवाद की नयी भाव-पद्धति से परिचित तो कराया ही। साहित्य राजनीति से अप्रभावित रहे यह अत्यन्त आवश्यक है; परन्तु जब राजनीति भी जीवन के भाव-पक्ष को इस कदर ग्रस ले कि साहित्य को राजनीति से बहुत कुछ लेना पड़े; तो निश्चित रूप से साहित्य अपने शाश्वत मूल्यों से हटकर सामयिक भौतिक उपलब्धियों का माध्यम भर बन जायगा। वहीं यह भी कहा जा सकता है कि साहित्य यदि जीवन के लिए नहीं है तो फिर वह गुलाब की रूह होकर ही किस काम का ? लेकिन क्या जीवन के लिए; या कला के लिए; साहित्य की, अभिव्यक्ति की या साहित्य कहलाने की विधा कविता ही है ? गद्य के द्वारा जितनी सशक्तता से वैज्ञानिक विषयों का प्रतिपादन किया जा सकता है; उतना काव्य के द्वारा नहीं। कविता में श्रोत शिक्षा के अतिरिक्त और भी गुण खोजना है; जिसके अभाव में वह कविता गद्य जितना भी प्रभाव उत्पन्न करने में असफल हो जाती है।

हिन्दी में प्रगतिवादी भावोन्मेष का प्रारम्भिक रूप राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का दूसरा नाम था। देश की पराधीनता, जनता की दयनीय स्थिति और जीवन-विकास के चारों ओर फैले फौलादी घेरे से मुक्ति पाना ही हमारा लक्ष्य था। यह एक ऐसा तुमुल नाद था जिसमें प्राणदायिनी प्रेरणा थी। यह भारतीयता का सांस्कृतिक उद्घोष था, जिसमें विदेशी शासन से जूझने और स्वतन्त्रता के लिए कुछ भी कर गुजरने की शक्ति थी। यह वही कार्य था जिसे राजनीतिक संस्थाएं स्वाधीनता के लिए कर रही थीं; यह वही कार्य था जिसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने विचारों के अनुकूल प्रतिपादित कर रही थी।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी की शान्ति और अहिंसा ने देश केकवियों, साहित्य-कारों पर भी अपना प्रभाव डाला और वे भी अपने राष्ट्रीय गौरव के गान गाते हुए साहित्य के माध्यम द्वारा देश की तत्कालीन अवस्था और आवश्यकता को जन-जन के लिए सुलभ करने लगे। और तब प्रगतिवाद राष्ट्रीय चेतना, आत्म-सम्मान, देश-गौरव, राष्ट्रीय अभि-उत्थान का नाम था। किन्तु प्रगतिवाद का वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना नहीं अपितु मार्क्सवादी विचार-पद्धति है—जब प्रगतिवादी साहित्य-स्रष्टाओं ने इस रूप में अपना दृष्टिकोण प्रकाशित किया तो निश्चित था कि वे तमाम देशभक्त जो मार्क्स के प्रभाव से आकर्षित होकर नहीं वरन् देश की उन्नति; साथ ही स्वाधीनता के महत् उद्देश्य से आ गये थे; चले जाते—और वही हुआ। अनेक लोग जिन्हें प्रगतिवादी समीक्षकों ने एक बार प्रगतिशील रचनाकार कहा था उन्हें ही लोग प्रतिक्रियावादी कहने

लगे और तब प्रगतिशील का अर्थ हो गया—मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का समर्थक।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का अर्थ साम्यवादी विचारधारा ही है। साम्यवाद अपने-आप में एक विचार-पद्धति है, लेकिन हिन्दी कविता में प्रगतिवाद के रजिस्टर्ड ट्रेडमार्क के अन्तर्गत जो रचनाएँ हुई हैं वे काव्य के उत्कृष्ट गुणों से प्रायः अछूती ही हैं। काव्य जीवन के लिए ही, होना चाहिए। काव्य का कला के लिए अस्तित्व चेतन समाज में ग्रहणीय नहीं और न प्रशंसनीय ही माना जाना चाहिए। जो कला राजा और नवाबों के तफरीह की चीजें मुहय्या करने का कार्य करती है, संघर्षरत जनता अपने दैनिक कार्यों के लिए ऐसी कला को उपेक्षणीय ही समझती है। किसी भी भाषा के काव्य की कुछ निश्चित मान्यताएँ धारणाएँ तथा सीमाएँ होती हैं। और जब कविता चारों ओर से स्वच्छन्द होकर अपना विकृत रूप उपस्थित करती है तो शायद ऐसे कम ही लोग होंगे जो उसे कविता की संज्ञा भी दें।

प्रगतिवादी यथार्थ का यथातथ्य चित्रण करने में ही अपनी सफलता मानता था और यह यथार्थ ऐसी भाषा से स्वर पाने लगा था जो न तो यथार्थ ही बन सका और न उस यथार्थ स्थिति के प्रति श्रोता और पाठक के मन में संवेदना की सृष्टि ही करने में सफल हो सका। इसका प्रमुख और जबरदस्त कारण यह भी था कि प्रगतिवाद के साम्यवादी उद्घोषक प्रायः जिन स्थितियों का वर्णन करते थे उन्होंने वैसी जिन्दगी न तो स्वयं जी थी और न उसका यथार्थ अनुभव ही था। इसके अतिरिक्त भी प्रगतिवाद सामयिक परिस्थितियों का एक काव्य-मय चित्र उपस्थित करने में रत था जो परिस्थितियों के बदलते ही श्रीहीन हो जाता है।

बचपन के घरौंदे एक विशेष अवस्था तक बहुत मोहक लगते हैं, यह सच है, परन्तु वहीं यह भी सच है कि बचपन या किसी भी जीवन का एक पक्ष शाश्वत आकर्षण का केन्द्र नहीं होता। प्रगतिवाद के साथ भी ऐसा ही हुआ। ज्वार के साथ आकाश छूनेवाली लहरें ज्वार की निरन्तर प्रतीक्षा में अपनी स्वाभाविक गति भी भूल गईं और पानी, अपनी ढलान की ओर गतिशील होने के लिए तो बाध्य था ही।

प्रगतिवाद की गति अभी अपनी वास्तविकता का पूरा अनुभव भी नहीं कर पाई थी कि दूसरी नयी पीढ़ी पूरे सज-धज के साथ प्रयोग का सरो-सामान लेकर पहुँच गई। इस नयी स्थिति से प्रगतिशील कवि तो कम; किन्तु समीक्षक विशेष

बिदके। लेकिन वे जिन को मैदान में खड़ा कर पीछे से मारू बाजे बजा रहे थे, जब उन्होंने ही हथियार डाल दिये तो फिर नगाड़े की क्या बिसात।

यों सन् १९४३ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन से हिन्दी काव्य को नई वाद संज्ञा मिली, जिसे 'प्रयोग' कहा गया। प्रयोगवादी नई पीढ़ी अपने को सभी पूर्ववर्ती उत्तराधिकारों से अछूती 'अवाद' और 'अस्कूल' की घोषणा लेकर आई थी। ये कवि पथ के अन्वेषी थे; इनके विचारों में भी साम्य नहीं था और न इनकी मंजिल ही निश्चित थी। 'प्रयोग' को ही प्रयोगवादियों ने लक्ष्य माना था। ऐसे ही 'प्रयोग' के आधार पर अन्वेषियों को प्रयोगवादी कह दिया गया।

सन् १९५१ ई० मे दूसरा सप्तक के प्रकाशन और 'प्रतीक' 'पाटल' तथा 'दृष्टिकोण' पत्रिकाओं के द्वारा प्रयोगवादी रचनाओं के समर्थन में विशेष योग मिला। यद्यपि 'तार सप्तक' में कुछ ऐसे कवि भी थे जो मार्क्सवाद के प्रति समर्पित थे किन्तु वे प्रयोग के नाम पर एक हो गये थे। कुछ संकलित कवियों ने तो अपनी विचारधारा का अन्तर भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया; परन्तु या तो वे अपनी विचार-धारा के प्रति आस्थाहीनता का उद्घोष कर रहे थे अथवा प्रयोग के चमत्कारिक रूप से खिच कर सबके साथ हो गये थे। चाहे जो हो; प्रयोगवाद अनेक हाँव-हाँव, कच-कच के बाद एक 'वाद' सिद्ध होकर ही रहा।

प्रगतिवाद मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रसार चाहता था। प्रगतिवाद साहित्यिक से अधिक राजनीतिक आन्दोलन था। प्रगतिवाद के पक्ष और विपक्ष में जितना सम्भव था कहा-सुना गया। लेकिन प्रगतिवाद का उद्देश्य स्पष्ट था, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

प्रगतिवाद समता का, सद्भावना का आन्दोलन था। प्रगतिवाद की आँखें एक को न देख अनेक को देखती थीं, विस्तृत भूमि और अनन्त आकाश को देखती थीं। किन्तु प्रयोगवाद को इन सबसे कुछ नहीं लेना-देना था। प्रयोगवाद ने अपने को काव्य, विशिष्ट काव्यवाद कहा। इस विशिष्टता को विभिन्न विशेषणों से सम्बोधित किया उस धारा की अक्षमता जानने वालों ने—प्रयोगवाद वैयक्तिक घुटन, कुंठा का प्रतीक है, प्रयोगवाद काव्य की सुघड़ता पर कम 'प्रयोग' पर अधिक ध्यान देता है, प्रयोगवाद प्रगतिशील धारा के विरुद्ध प्रतिक्रियावादियों का एक नारा है और प्रयोगवाद विदेशी जूठन की प्रतिष्ठा का प्रयत्न है।

प्रयोगवाद के विरुद्ध जितने आक्षेप सिद्ध किये गये उनमें कुछ तो निष्पक्षता का परिचय देते हैं किन्तु वहीं कुछ आक्षेप वर्ग विशेष के आक्रोश से उत्पन्न हैं। प्रयोगवादी नामधारी रचनाकारों ने ही किसी विदेशी कवि की किसी रचना से प्रभाव

ग्रहण कर उसे अपने रूप में अभिव्यक्त किया हो (यद्यपि ऐसा किया गया है) किन्तु प्रयोगवाद की उत्पत्ति विदेशी प्रभाव का हेतु नहीं। प्रभाव खोजने वाली दृष्टि किसी नई धारा का सही मूल्यांकन तभी कर सकती है जब वह मात्र प्रभाव ढूँढ़ने नहीं उत्स का अन्वेषण करने के लिए उस धारा विशेष से परिचय प्राप्त करे। छायावाद पर भी विदेशी प्रभाव देखा गया यद्यपि वह भ्रम था, प्रगतिवाद को भी विदेशी प्रभाव माना गया वह भी इस प्रकार भ्रम है कि हिन्दी कवि-साहित्यकार ने उस विशेष विचार को अपने लिए आवश्यक समझा और भारत की परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। कोई भी देश किसी देश की मानसिक भावभूमि को प्रभावित नहीं करता, न कर सकता है, जब तक वहाँ की मिट्टी स्वयं किसी विशेष बीज की आवश्यकता अपने लिए अनुभव न करे।

प्रयोगवादी रचनाओं ने कुछ सहज व्यक्तियों को भ्रम में स्वयं इस प्रकार डाल दिया कि प्रगतिशील कवियों के साथ प्रयोगवाद अपनी शैली तथा रूप-विधान में वैयक्तिक होते हुए भी भावना से जनवादी लगने लगा। इसका कारण थीं प्रयोगवादी रचनाकारों की कुछ ऐसी कविताएँ जिनमें व्याज से जनहित का चित्रण हो गया था। दरअसल प्रयोगवाद के लिए प्रगतिवादी दृष्टि मूल्यहीन ही नहीं कविता के लिए निरर्थक थी। प्रयोगवाद को कुछ समीक्षक विशुद्ध काव्य-आन्दोलन मानते हैं जबकि उनके लिए प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन था ही नहीं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रगतिवाद ने कोई बहुत बड़ा कवि भले न दिया हो किन्तु वह युग का स्वर था जिससे कतराकर अलग हो जाना साहित्य की जीवन्त चेतना से विमुख होना है। यद्यपि इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन सारे आन्दोलनों की गगनभेदी घोषणाओं के चलते हुए भी अनेक कवि ऐसे थे जो कविता को जीवनाभिव्यक्ति का साधन मानते रहे और आगे चलकर समाज ने उनका यथोचित सत्कार भी किया।

प्रयोगकर्ताओं ने न केवल भाषा अपितु भाव और शैली सभी दिशाओं में नवीनता का लोभ प्रदर्शित किया किन्तु जैसे प्रयोग जीवन नहीं होता और न आपरेशन-बेड पर लेटा हुआ रोगी यही चाहता है कि अनेक विशेषज्ञ अपने-अपने मस्तिष्क की सूझ की छुरी उसी पर चलाएँ—प्रयोग समाप्त हो गया। और उन्हीं प्रयोगकर्ताओं ने आगे की कविता को 'नयी' संज्ञा देदी। कौन कह सकता है कि प्रत्येक युग की नई काव्य-धारा 'नयी कविता' का रूप नहीं ग्रहण करती? सम्भव है; शब्द के अभाव में ही (जैसा प्रायः हुआ है) प्रयोगवाद की समाप्ति पर हिन्दी कविता को 'नयी कविता' का नाम दे दिया गया। स्वयं प्रयोगवाद के

अग्रणी कवि अज्ञेय ने ही प्रयोग-कालीन स्थिति की समाप्ति और काव्य-उपलब्धियों को देखते हुए 'नयी कविता' को 'नयी' संज्ञा दी। इसके पीछे भावना यह थी कि जिस काव्योपलब्धि के लिए प्रयोग चल रहा था वह युग बीत गया और नयी हिन्दी कविता काव्यगत सारे गुणों से युक्त है।

प्रयोगवाद, जैसा नाम से ही लक्षित है, मात्र भावुकता की अभिव्यक्ति नहीं था। प्रयोगवादी कवियों में सभी सशक्त रचनाकार बौद्धिक रूप में विशेष जागरूक और सुरुचि-सम्पन्न थे। इसका कारण है आज की वैज्ञानिक स्थिति। कवि अपने युग-चिन्तन से सर्वप्रथम प्रभावित होने वाला प्राणी होता है क्योंकि वह अत्यधिक संवेदनशील कहा जाता है। प्रयोगवाद से चल कर नयी कविता तक के सभी रचनाकारों में बौद्धिक तत्त्व विशेष रूप में लक्षित होता है। यों तो कहा ही नहीं जा सकता कि कविता बुद्धि के अभाव में भी सम्भव है। परन्तु प्राय: कविता को हृदय अर्थात् भावना का ही विषय माना जाता रहा है। भावना; स्वप्न और कल्पना की जन्मदात्री होती है और भावना-प्रधान कविता वनासिक की ओर अग्रसर होने लगती है। भावात्मकता काव्य के बाह्य उपकरणों, भाषा शैली, शिल्प, अलंकार, प्रतीक-योजना प्रभृति पर अधिक ध्यान देती है।

आज की कविता वैज्ञानिक युग की कविता है अर्थात् आज मस्तिष्क हृदय के स्तर पर आरूढ़ होकर हृदय को अपने धरातल तक लाने और चिन्तन करने में सहायक हो रहा है। यदि कवि युग का अगुआ है तो निश्चित रूप में उसे इस नयी परिस्थिति को भी आत्मसात् करना होगा। आज अनेक दिशाओं से ऐसी आवाजें भी सुनाई देती हैं कि कविता का युग नहीं रहा। इसका प्रमुख कारण यही है कि आज की कविता वैज्ञानिकता के चमत्कार से प्रभावित व्यक्ति का मन-मस्तिष्क जब तक छूने में समर्थ नहीं होगी वह युग का स्वर नहीं बन सकती। और कविता को युग-स्वर बनने के लिए बुद्धि-पक्ष को समर्थ बनाना होगा। हम अपने वर्तमान परिवेश और चारों ओर चल रहे वैज्ञानिक प्रयोगों से विमुख नहीं हो सकते। अतः आज की नयी कविता में यदि बौद्धिकता का तत्व बढ़ता जा रहा है तो यह निश्चित रूप से कविता की प्रगति का सबूत है। यद्यपि आज की कविता के आलोचक (परम्परावादी समीक्षाशास्त्री) इसलिए भी 'नयी कविता' से चिढ़ते हैं कि उन्हें इसमें परम्परा का निर्वाह नहीं दीखता। यह सही है कि परम्परा का एकदम परित्याग न तो यथेष्ट होता है और न सम्भव ही; परन्तु आजका कवि कथ्य डायरेक्ट एप्रोच (प्रेषणीयता) पर विशेष बल देता है। इसीलिए यदि छन्द के बिना भी कविता सम्भव है तो वह छन्द को आवश्यक नहीं मानता, शब्द की कोमलता

अनिवार्य नहीं, कविता के लिए निश्चित विषयसीमा नहीं और यह आज के जीवन और युग-जनित स्थितियों का फल है। इसीलिए—

नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला है या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

—अज्ञेय

आज पहली बार-
थकी शीतल हवा ने
शीश मेरा उठाकर
चुपचाप अपनी गोद में रक्खा
और जलते हुए मस्तक पर
कांपता-सा हाथ रखकर कहा-
"सुनो, मैं भी बहुत भटकी हूँ,
सुनो, मेरा भी कोई नहीं,
सुनो, मैं भी कहीं अटकी हूँ
पर जाने क्यों
पराजय ने मुझे शीतल किया
और हर भटकाव ने गति दी।
नहीं कोई था
इसी से सब हो गये मेरे
मैं स्वयं को बांटती ही फिरी
किसी ने मुझ को नहीं यति दी।"
लगा मुझ को उठाकर कोई खड़ा कर गया,
और मेरे दर्द को मुझ से बड़ा कर गया,
आज पहली बार।

—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

इन कविताओं के अतिरिक्त (यद्यपि ऐसी सैकड़ों कविताएँ आज तक लिखी गई हैं जिन्हें नयी कविता कहा गया है) कोई भी सहृदय डा० धर्मवीर भारती से—

"नयी कविता न तो परम्परा की अंधपूजा करती है और न उसके विरुद्ध हीन-ग्रन्थि-युक्त निरर्थक विद्रोह। वह परम्परा को आत्मसात् कर उसे नये स्तर पर प्रतिष्ठित करती है, नयी दिशा में मोड़ती है।" (नयी कविता, दो, पृष्ठ ४६) असहमति नहीं प्रकट कर सकता। और तब मानना पड़ता है कि नयी हिन्दी कविता का पूर्व रूप प्रयोगवाद निश्चित रूप से साहित्यिक आन्दोलन था। वैसे नयी कविता के वर्तमान को देखते हुए उससे आशान्वित होना अस्वाभाविक नहीं। महादेवी वर्मा के विचार—"नये युग की कविता मनुष्यता को किसी उज्ज्वल भविष्य और मंजिल तक पहुँचा देगी।" के साथ प्रत्येक साहित्यिक रुचि के व्यक्ति को हिन्दी कविता का भविष्य-पथ प्रशस्त दिखलाई देता है। क्योंकि आज की कविता पाठक का मात्र मनोरंजन न कर उसे कुछ सोचने को भी बाध्य करती है; आनन्द के साथ एक झकझोर भी देती है।

> "नयी कविता ने मानव-भावना को छायावादी सौन्दर्य के बढ़कते हुए पलने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन-समुद्र की उत्ताल लहरों में पेंग भरने को छोड़ दिया है, जहाँ वह साहस के साथ सुख-दुःख, आशा-निराशा के घात-प्रतिघातों में बढ़ती हुई युग-जीवन के आँधी-तूफानों का सामना कर सके, अन्तर्वेदना से मुक्त होकर सामाजिक व्यथा के अनुभवों से परिपक्व बन सके। नयी कविता विश्व वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण कर के तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छन्दों के संकेतों की तीव्र-मन्द गति-लय में अभिव्यक्त कर, युग-मानव के लिए नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।" (सुमित्रानन्दन पंत, नयी कविता, अंक एक, पृष्ठ ३)

निष्कर्ष यह कि 'नयी कविता' युग की माँग है, 'नयी कविता' मनुष्यता के उज्ज्वल भविष्य की प्रगति-रेखा है, 'नयी कविता' परिवर्तित युग-पट की सशक्त अभिव्यक्ति है, 'नयी कविता' नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत करने में यत्नशील है और 'नयी कविता' न तो परम्परा की अंधपूजा है और न परम्परा के विरुद्ध हीन-ग्रन्थि-युक्त विद्रोह।

और इसी संदर्भ में यदि बच्चन को देखें!—बच्चन की कविता उनके व्यक्ति और युग का विशिष्ट स्वर है। इसीलिए बच्चन की कविता को किसी वाद विशेष की संकुचित सीमा में फिट करना समीक्षक के 'वादी' दृष्टिकोण का ही परिचायक है। बच्चन का कवि लिखने के लिए नहीं जीता, जीवन प्रशस्त करने के लिए

लिखता है। तात्पर्य यह कि जब अन्तर के आवेग शब्द और स्वर माँगते हैं तब बच्चन की कलम उठती है। और यही कारण है कि बच्चन की कविताओं में कहीं से भी अनुभूति तथा जीवन-चेतना की कमी नहीं दीखती। चाहे अपने जीवन को उन्होंने स्वप्नों के सहारे भले छोड़ दिया हो, अपनी रचना के प्रति प्रारम्भ से ही सतत सचेत रहे हैं। और यही उनको निरन्तर प्रगति की एकमात्र वजह है।

यों पिछले २५ वर्षों की हिन्दी कविता-धारा के साथ यदि बच्चन के कवि को ढूंढ़ा जायगा तो वह न तो झंडा लिये दीखेगा और न अनुयायियों के साथ 'जिन्दाबाद' का स्वरालाप करते। बच्चन की कविता व्यक्ति-मन के सहज आरोह-अवरोह, आशा-निराशा, पीड़ा-आनन्द की कविता है। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो बच्चन की कविता सच्चे अर्थ में कविता है क्योंकि वह जीवनानुभूतियों का प्रकटीकरण है। बच्चन का काव्य-विषय देशी, विदेशी किसी खास सीमा में न बँट कर जीवन का स्वर है, सपनों को साकार करने वाले एक सतत् गतिशील व्यक्ति की दुःख-सुख गाथा है। इसीलिए बच्चन की कविता का आधार कोई सिद्धान्त या विचार-पद्धति नहीं, वरन् बच्चन का जीवन ही है। बच्चन वाद विशेष का नारा लेकर नहीं आये थे, बच्चन विद्यार्थियों के कोर्स बुक में नहीं हैं, बच्चन अध्यापकों के सिर-दर्द का कारण भी नहीं हैं? और तब मानना पड़ता है कि बच्चन जिस जनता की बात कहते हैं वह उनका पाठक और श्रोता वर्ग ही है जिसे वे प्रिय हैं, जिसके लिए वे लिखते हैं। यहीं यह प्रश्न उठ सकता है कि बच्चन के निजी सुख-दुःख से दूसरों को क्या? इसका उत्तर है कि बच्चन की आशा-निराशा मानव-मन की सही, प्राकृत आशा-निराशा है और उसकी अभिव्यक्ति काव्य की विशिष्टता से युक्त है।

बच्चन ने अपने व्यक्ति को सृष्टि का एक प्राकृत व्यक्ति-मानव ही माना है, इसीलिए उन्हें भास होता है कि उनकी काव्यगत निष्पक्षता प्रत्येक पाठक-श्रोता के रागात्मक तत्वों को स्पर्श करने में समर्थ सिद्ध होगी—और हुआ भी ऐसा ही है। अतः कविता के लिए जीवन-स्थितियाँ और अभिव्यक्ति की स्पष्टता ही प्रमुख तत्व है।

छायावादोत्तर हिन्दी कवियों में जितनी उपेक्षा (समीक्षकों द्वारा) बच्चन की हुई है; अज्ञेय को छोड़कर शायद ही किसी अन्य कवि की हुई हो। और ये दोनों ही कवि अपनी क्षमता के बल पर आज हिन्दी के शीर्ष स्थान पर हैं। वैसे बच्चन की अज्ञेय से तुलना युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि जहाँ बच्चन को अपनी कविता और अपने व्यक्ति पर अत्यधिक आस्था रही है; वहीं अज्ञेय अपनी कविता की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। अज्ञेय का काव्य जीवन का

भोगा हुआ दर्द (दर्द को संकुचित अर्थ में न लिया जाय) कम, युगानुरूप बाह्य चेतना से अधिक प्रभावित रहा है; जबकि बच्चन का कवि अपने व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया और युग-स्थितियों से उत्पन्न चिन्तना के समन्वित रूप को भाषा का जामा पहनाता रहा है। बच्चन इसलिए भी किसी अन्य से तुलनीय नहीं क्योंकि न तो उन पर किसी का प्रभाव है न उन्होंने किसी विशेष सिद्धान्त को काव्य का विषय चुना है। उनकी समीक्षा मात्र इस आधार पर की जा सकती है कि उनका कथ्य किस सीमा तक प्रभविष्णु और प्रेषणीय बन पाया है।

'मधुशाला' के कवि बच्चन को लोगों ने बड़ी श्रद्धा और उपेक्षा से देखा था। हालाका स्वर हिन्दी कविता के लिए अपरिचित-सा था और बच्चन के काव्य-मन्दिर में प्रवेश करते ही यह नयी छूत संक्रामकता के स्तर तक पहुँच गई। बच्चन के महत् उद्देश्य और जीवन-प्रेरणा से अपरिचित चिन्तन-हीन समीक्षक वर्ग ने हाला और प्याला के प्रतीकों का जितना बन पड़ा; मखौल उड़ाया। बच्चन के कवि को आचरण-हीन और उच्छृङ्खल तक कहा गया। परन्तु किसे फुर्सत थी कि वह 'मधुशाला' के विभिन्न प्रतीकों से ध्वनित होते जीवन और युग की भाषा पढ़े, उसका स्वस्थ अर्थ ग्रहण करे। यही कारण था कि बच्चन को प्रारम्भ से ही तथाकथित आलोचकों से अधिक भरोसा अपने काव्य-पाठकों, श्रोताओं की बुद्धि पर हो गया क्योंकि वे सम्भवतः समीक्षकों से अधिक भावना-प्रवण, अधिक सहृदय थे। युग की निराशा को पलायन का पथ देने वाले छायावादियों के विरुद्ध संघर्षों में ही जीवन का अधिकार माँगनेवाले बच्चन ने दुःख को हँस-हँस भुला देने की आवाज बुलन्द की। और नहीं तो—अपने सत्याग्रही कविरूप में उन्होंने जो बलिदानी भावना से प्रभावित होकर कविताएँ लिखी थीं, जिनमें नीचे की पंक्ति एक बानगी है—

सिर जाए तो जाए, पर हिन्द आजादी पाए

(चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा सम्पादित
'बच्चन', आमुख, पृष्ठ १८)

नरेन्द्र शर्मा की—सुनो साथियो ! अमरीका के शहर शिकागो की है बात

या

इहाँ की बतियाँ इहवें छाड़ो औ —
आगे का सुनो हवाल

——इनमें कौन घट-बढ़ कर है, निर्णय

कवियों की श्रेणी से अब से मेरा नाम हटा दो।

—मिलन यामिनी

ये पंक्तियाँ कवि की, कविता से अधिक उसके अपने व्यक्ति के प्रति आस्थावान होने की घोषणा करती हैं। वह जानता है कि उसकी अभिव्यक्ति अपने-आप में इतनी समर्थ है कि उसे झुठलाया नहीं जा सकता फिर क्यों वह कवि कहलाने के लिए सिफारिश करता फिरे……

मैं सिफारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ।
कामना कुछ प्राप्त करने की हुई तो
प्रथम अधिकारी बना हूँ
और फिर मैं काल के, संसार के औ'
भाग्य के आगे तना हूँ
मैं वहाँ झुक कर, जहाँ झुकना गलत है,
स्वर्ग ले सकता नहीं हूँ

—आरती और अंगारे

और……

मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझ को, जीत मुझ को।
कौन कहता है कि आधी रात को मैं
बैठ शब्दों के तुकों को जोड़ता हूँ
भावना के भेद को जो हैं दबाए
सत्य में, उन पत्थरों को तोड़ता हूँ,
आग निकले या कि जल की धार निकले
राग मधुमय या करुण चीत्कार निकले
चीरकर जो संग की छाती निकलती
है विकलता, बस वही संगीत मुझको।

—आरती और अंगारे

इसी आत्म-विश्वास की अभिव्यक्ति बच्चन के पूरे काव्य-साहित्य में हुई है। मानव-मन के सारे संवेगों को ही विभिन्न स्थितियों में बच्चन ने कविता का रूप दिया है। वे तट पर खड़े रहकर तैरनेवालों को देखने में आनन्दानुभव करने वाले नहीं; अपितु स्वयं हर लहर की शक्ति उसके बीच जाकर जाँचने में विश्वास करने वाले हैं। हर पैनी धार को देखकर हाथ फेरने का लोभ उन्हें संवरण नहीं होता।

चाहे दुःख की सघनता हो चाहे सुख की अति, बच्चन ने अपने मानवोचित आत्म-बल से दोनों का स्वागत किया है, दोनों का आनन्द लिया है। वे निष्क्रियता के विरोधी और कर्मठता में विश्वास करने वाले हैं।

गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है।
सख्त पंजा, नस कसी चौड़ी कलाई
और बल्लेदार बाँहें,
और आँखें लाल चिन्गारी सरीखीं
चुस्त औ' सीखी निगाहें
हाथ में घन और दो लोहे निहाइ
पर धरे तो, देखता क्या,
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है।
एक गज छाती मगर सौ गज बराबर।
हौसला उसमें, सही है,
कान करनी चाहिए जो कुछ तजुर्बे-
कार लोगों ने कही है।
स्वप्न से लड़ स्वप्न की ही शक्ल में हैं
लौह के टुकड़े बदलते।
लौह-सा वह ठोस बनकर है निकलता जो कि लोहे से लड़ा है।

—आरती और अंगारे

यही कारण है कि बच्चन की कविताओं के समय-समय पर बदलते स्वर किसी भी रूप में दिवालियेपन के हेतु न बन, प्रगति की अगली सीढ़ी का कार्य करते रहे हैं; क्योंकि उनके पीछे एक स्वस्थ मस्तिष्क एवं संवेदना-युक्त हृदय तत्पर रहा है, जीवन की भोगी गई अनुभूतियाँ रही हैं—सत्य और स्वाभाविक।

सन् १९३० से १९६० ई० तक के तीस वर्षों में दो सशक्त, प्राणवान कवि ऐसे हैं जिन की काव्य-भूमि बदलती रही है, एक हैं श्री सुमित्रानन्दन पंत और दूसरे श्री हरिवंश राय 'बच्चन'। छायावाद के लब्धप्रतिष्ठ कवि पंत ने मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रभावित होकर (१९३६) में 'युगान्त', (१९३९) में 'युगवाणी' और (१९४०) में 'ग्राम्या' की रचनाएँ कीं। अपनी कोमल-कान्त-पदावली की कल्पना-प्रवण भूमि छोड़कर पंत जी ने जन-जीवन के सुख-दुःख के साथ स्वर-सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था। छायावादी रचनाओं में पंत जी कविता को अलंकारों के नवीनतम उपादानों से सुसज्जित करने के पक्षपाती

थे; किन्तु यहाँ आकर "वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार?" उन्हें स्वयं अपनी भावना की अभिव्यक्ति के—डाइरेक्ट एप्रोच में—अलंकारों की आवश्यकता निरर्थक लगी। और पंत जी जैसे लोक-विश्रुत कवि को पाकर प्रगतिशील समीक्षकों ने अपना गढ़ मजबूत करने का प्रयत्न किया। परन्तु पंत जी वहाँ भी नहीं टिके और फिर तो उन्हें अरविन्द आश्रम में ही 'महामानव' की खोज के लिए शरण लेनी पड़ी। आज पंत जी क्या और किस अन्वेषण में लगे हैं यह हिन्दी कविता पाठकों से छिपा नहीं है। इसी प्रकार बच्चन ने भी अपना स्वर बदला है, अपनी भूमि बदली है और अभिव्यक्ति-शैली में भी परिवर्तन किया है। परन्तु जहाँ पंत जी (अपनी सम्पूर्ण आस्था के बावजूद भी) अपने परिवर्तन में जीवन की सच्चाई से दूर-दूर ही दीखते हैं वहाँ बच्चन का विषय-परिवर्तन जीवन तथा युग-परिवर्तन की प्रतिक्रिया का सहज परिणाम है। बच्चन की काव्य विषयक भाव-भूमि को मुख्यतया पाँच खानों में रखा जा सकता है।

* राष्ट्रीय भावना से अभिभूत हारे युवक बच्चन का जीवन-गान मधुशाला-कालीन युग—मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, हलाहल की रचनाएँ।
* सामाजिक निराशा-मय वातावरण में ही प्रथम पत्नी श्यामा की मृत्यु से मर्मान्तिक पीड़ा का युग—निशा निमंत्रण, एकान्त संगीत, आकुल अन्तर की (दुःख में सुख की किरन खोजने का प्रयास) रचनाएँ।
* वैयक्तिक सुख-सुविधा की प्रतिक्रिया स्वरूप, द्वितीय पत्नी का संयोग, सुख का युग—सतरंगिनी, मिलन यामिनी, प्रणय पत्रिका और 'आरती और अंगारे' (की कुछ रचनाएँ) —रचनाएँ।
* युगव्यापी महत् घटनाओं से आन्दोलित कवि के बहिर्जगत के साथ रागात्मक सामंजस्य का युग—बंगाल का काल, खादी के फूल और सूत की माला तथा 'धार के इधर-उधर' की (कतिपय रचनाएँ) रचनाएँ।
* आज (१९६०) की लोकधुन पर आधारित लोक-मानस-स्पर्शिनी रचनाएँ।

उपर्युक्त वर्गीकरण प्रत्येक स्थल पर समयानुसार न होकर भावना-मूलकता के आधार पर किया गया है। उद्देश्य मात्र इतना, कि पंत जी की भाँति बच्चन की

अपने से यहाँ-वहाँ दूर-दूर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। वे तो जीवन के गीत गाते रहे हैं और जीवन अपने-आप में 'महाकाव्य' है।

मैं नहीं मानता, न स्वाभाविक ही है कि बच्चन की सभी रचनाएँ एक-सा प्रभाव उत्पन्न करती हैं। क्योंकि किसी रचना-विशेष से कवि की मनोदशा के अनुकूल प्रभाव या आनन्द प्राप्त करने के लिए, आवश्यकता होती है पाठक की तदनुकूल मनोदशा की। और यहीं पाठक का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार ही रचनाएँ चुने (यद्यपि पाठक करता भी ऐसा ही है)। फिर भी कुछ व्यक्तियों को करुणा अधिक मोहती है तो कुछ को आनन्दाभिव्यक्ति। हमें देखना यह है कि हम अपने अनुसार तो रचना से प्राप्त आनन्द को नहीं जाँच रहे हैं, क्योंकि समीक्षक के लिए तटस्थता अनिवार्य गुण है। यहीं किसी रचना को उत्कृष्ट और अधम घोषित करने के पूर्व समीक्षक को यह भी जान लेना होता है कि वह कहीं अभिव्यक्ति की आत्मा के साथ खिलवाड़ तो नहीं कर रहा है। कुछ लोगों को निशानिमंत्रण और एकांत संगीत की कविताएँ बच्चन की काव्य-प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण दिखलाई देती हैं[1] तो कुछ इसीलिए कवि की प्रशंसा करते हैं कि चलो वह दुःख और निराशा से ऊपर उठकर सतरंगिनी की उल्लासमयी फुलवगिया में तो आगया।[2]

ऐसी प्रतिक्रियाएँ किसी सिद्धान्त का नहीं, व्यक्ति-रुचि का परिचय देती हैं। कविता या साहित्य का महत्त्व व्यक्ति-रुचि से बढ़कर कुछ विशेष होता है।

बच्चन के बदलते काव्य-विषय के साथ उनके जीवन और युग-विशेष को देखना परम आवश्यक है और इसके अभाव में उनकी रचना की तर्कसंगत आलोचना तो सम्भव नहीं ही, सहज रूप में उससे आनन्द भी उतना नहीं मिल सकता, जितना चाहिए। वैसे आम खाने का दृष्टिकोण बुरा नहीं, पर पेड़ गिन लेने पर और यह जान लेने पर कि किस पेड़ की विशेषता क्या है स्वाद में भले अंतर न आये ज्ञान को तो कहीं-न कहीं झटका लगता ही है। और पुनः आम चखने के लिए जाने पर "अमुक पेड़ का आम चाहिए" यह प्रत्येक परिष्कृत रुचि के व्यक्ति की आवाज होती है। इसे ही रुचिभिन्नता भी कह सकते हैं, जिसके लिए संस्कार अपेक्षित होता है।

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी।

२. डॉ० रामविलास शर्मा।

यों यहाँ मात्र यही कहना है कि छायावादोत्तर हिन्दी कविता की अब तक जितनी उपलब्धि हुई है उसमें सत् काव्य के लिए बच्चन का अंश; किसी भी हिन्दी कवि से अधिक है। जब बच्चन के पाठकों की संख्या किसी भी आधुनिक कवि के लिए ईर्ष्या का कारण है फिर क्या यही कवि की विशिष्ट स्वस्थता, सशक्तता, काव्य-गुण-सम्पन्नता नहीं ? चाहे 'वादों' की विवेचना के समय बच्चन का स्मरण न किया जाय परन्तु कविता—तत्कालीन युग-कविता-की विवेचना के वक्त बच्चन का स्मरण उनकी कवि और व्यक्ति के प्रति अमित आस्था के लिए किया जायगा। क्योंकि बच्चन की कविता मानव-मन का राग है न दैवी विदग्धता, न दानवी उच्छृङ्खलता। बच्चन के कवि को तो अपनी शक्ति का भरोसा है। वह देखता है कि उसके साथ चलने वाले कितने रास्ते से मुड़ गये, कितने आज भी उछल-कूद मचा कर क्षणिक प्रशंसा और जगहँसाई के पात्र बन रहे हैं परन्तु उसे तो तल तक पैठ कर मोती निकालना है, उछल कर तिनकों की तरह हवा के साधारण झोंकों से उड़ जाना नहीं:……

और ये जितने उछलते-कूदते हैं
क्या सभी कुछ पा रहे हैं ?
कुछ न पाएँ, पर जमाने की नजर में
तो उभरते आ रहे हैं,
जो कि अपने को दिखाते घूमते हैं
देखते खुद को कहाँ हैं,
और खुद को देखने वाली नजर
नीचे सदा रहती गड़ी रे।
और, जो ऊँचे उचकते, स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे।
और इस हल्की हवा; फुल्की सतह पर
दीखता उड़ता हुआ जो
याकि कीड़ा मकोड़ा, याकि रजकण,
याकि जो तिनका, भुआ जो,
दाँत से इनको पकड़कर कुछ बड़े खुश
हो रहे हैं, पर तुझे तो
सिर्फ लेना है अतल गहराइयों से
ठीकरे हों या कि हीरे।

और, जो ऊँचे उचकते, स्वाभिमानी,
पैठ तू, गहरे-गंभीरे।

—आरती और अंगारे

यहाँ तो—जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ—की लोकविश्रुत कहावत ही साक्षी है कि गहराई में ·डूबनेवालों से ठीकरे लाने की सम्भावना नहीं ही होती।

गहराई में डूबकर कुछ पाने, ले आने का हौसला ही डूबने वाली भावना की समर्थता और आत्म-शक्ति की परिचायिका है। इसी लिए बच्चन का पूरा काव्य साक्षी है कि उन्होंने कहीं जीवन से पलायन कर अदेखे लोक में जाने की योजना नहीं बनायी है—देह धरे का दण्ड—ही हँस-हँसकर भोग लेना उनका स्वभाव रहा है। बच्चन के आँसू भी स्वस्थ मन की दुःख-कथा कहते हैं और वहीं उनका सुख तो सुख है ही। हाँ, नैतिक परम्परा और आदर्शों की चिन्ता उन्हें नहीं रही है। बच्चन की इसी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के लिए बहुत से आदर्शवादी उन्हें क्या-क्या नहीं कहते पाये गये हैं; परन्तु नैतिकता और आदर्श स्वभाव-जनित नहीं, मनुष्य के सुसंस्कृत होने के लिए ऊपर से थोपे गये नियम हैं। और जो बच्चन की रचनाओं में नैतिकता और आदर्श नहीं देखते वे शायद जीवन का अर्थ नहीं समझते, जीवन-धर्म नहीं जानते। दूसरों के सुख-विलास की ओर कटाक्ष करना तथा स्वयं वैसी ही कामनाएँ संजोये रहना स्वस्थता की प्रवृत्ति नहीं है। बच्चन जहाँ बंधनों का विरोध करते हैं वहीं कार्य की अभिरामता को भी नहीं भूलते....

जब करूँ मैं प्यार
हो न मुझ पर कुछ नियंत्रण
कुछ न सीमा, कुछ न बंधन
तब रुकूँ जब प्राण प्राणों से करें अभिसार।

× × ×

जब करूँ मैं काम।
प्रेरणा मुझको नियम हो,
जिस घड़ी तक बल न कम हो,
मैं उसे करता रहूँ यदि काम हो अभिराम।

—एकांत संगीत

☆ ☆

बच्चन : एक इण्टरव्यू

दो

किसी भी कवि अथवा साहित्यकार से मिलने के पूर्व उसके सम्बन्ध में भांति-भांति के भाव-चित्र मिलने वाले के मन में होते हैं। कुछ मेरी भी धारणाएं थीं लेकिन जैसे किसी के भी प्रति बनायी गयी धारणाएं पूर्णतः सत्य न होकर उसका अंश होती हैं—मुझे भी ऐसा ही अनुभव हुआ।

सलाम-दुआ के पश्चात् बच्चन जी ने अजित कुमार (कवि) की ओर मुड़ कर कहा, "अजित, चन्द्रदेव सिंह कलकत्ते से आकर मेरा इण्टरव्यू लेना चाहते हैं। इस समय कुछ भी बोलना खतरनाक है क्योंकि पता नहीं ये क्या-क्या छाप दें।"

मैंने हँसकर कहा—"तो यहीं से क्यों न प्रारम्भ करूँ।"

"जानते हो", बच्चन जी ने आगे कहा, "मैं जिन दिनों इंगलैण्ड में था, एक बार श्रीमती ईट्स से मिलने गया। मेरा रिसर्च डब्लू० बी० ईट्स पर चल ही रहा था, सोचा उनकी पत्नी से भी मिल लूँ। लेकिन वहाँ पहुँच कर कई ऐसी घटनाओं से परिचित होना पड़ा जो श्रीमती ईट्स के दुःख का कारण थीं। और उनका दुःख यहाँ तक पहुँच गया था कि वे अब किसी से साहित्यिक स्तर पर मिलने एवं अपने पति के विषय में कुछ भी कहने में भय खाती थीं, संकोच करती थीं। कारणों का जिक्र करते हुए उन्होंने बताया, 'एक बार एक अमेरिकन जिज्ञासु मिलने आये। उन्होंने स्वर्गीय डब्लू० बी० ईट्स के विषय में भांति-भांति के प्रश्न किये, उन्होंने समुचित उत्तर भी दिये। उसी सिलसिले में ईट्स के प्रेतों के प्रति विश्वास और उनके कुछ ऐन्द्रजालिक रहस्यों के सम्बन्ध में भी उन्होंने कुछ बातें बताईं कि ईट्स का प्रेतात्माओं में विश्वास था, वे कभी-कभी अपनी ही हथेली को रगड़ कर कहते थे, लो सूँघो, इससे गुलाब की गन्ध आती है और वैसा ही होता भी था। एक दिन उन्होंने कहा कि मेरे अध्ययन-कक्ष में जाकर देखो ताजे-टटके गुलाब के फूल बिछे हैं। जब जाकर देखा गया तो सचमुच ही अगणित गुलाब के खिले हुए फूल कमरे में करीने से बिछे हुए थे। इसी प्रकार एक स्थानीय मुहल्ले में वे आधी रात को खण्डहरनुमा स्थानों पर भी प्रायः जाया करते थे।"

उस अमेरिकन ने—जिसके पास पाकिट टेपरिकार्डर था—सभी वार्ताएँ रिकार्ड कर लीं और अमेरिका जाकर 'डब्लू० बी० ईट्स—एक जादूगर', 'डब्लू० बी०

ईट्स—एक प्रेतात्माओं में विश्वास करने वाला' ऐसे ही अनेक शीर्षकों से ईट्स के उस रूप का चित्रण करना प्रारम्भ किया जिसका परोक्ष या प्रत्यक्ष कैसा भी सम्बन्ध उनके साहित्य तथा कला से नहीं था।

और बच्चन जी ने आगे कहा, "जब मैंने अपने रिसर्च गाइड से पूछा कि डब्लू० बी० ईट्स क्या सचमुच भूत-प्रेतों में विश्वास करते थे? तो उसने उत्तर दिया, यदि वे करते भी हों, तो हमें उससे क्या मतलब, हमें तो यह देखना है कि उस विश्वास या प्रयोग से या उसके बावजूद उन्होंने कैसा साहित्य हमें दिया है। इसी संदर्भ में जब मैंने पूछा कि शोधकर्ता में सब से बड़ा गुण क्या होना चाहिए तो मेरे गाइड ने कहा, इमेजिनेशन—कल्पना।"

एक मिनट की खामोशी के बाद पुनः बच्चन जी ही बोले, "तुम मेरे विषय में क्या जानना चाहते हो? मैं अपने व्यक्ति रूप में जितना सहज और स्पष्ट हूँ उतना ही अपनी कविता में भी हूँ। मैं सीमाओं में रह कर काम करनेवाला आदमी हूँ और मुझे सीमाएँ अच्छी लगती हैं। मैंने कभी आकाशी स्वप्नों में विचरने की कल्पना ही नहीं की, क्योंकि मेरा पांव जहाँ ठोस जमीन पर है उसी के आस-पास मुझे अपनी कविता का आधार मिल जाता है। मैंने जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियों का सामना किया है जिनमें आत्महत्या तक कर डालने को जी चाहा है परन्तु जीवन के किसी आकर्षण ने मुझे ऐसा करने से रोका, जिन्दगी में आनन्द जितना प्रेरक होता है उतना ही दुःख भी। मैंने जीवन को, सर्वदा सुख और दुःखों से भरा हुआ पाया है और ऐसे ही इसे स्वीकार भी किया है। यदि आज कोई मुझसे कहे कि चार हजार रुपए महावार लिया करो और एक कमरे में बैठ कर कविताएँ लिखा करो तो मैं उससे हाथ जोड़ कर कह दूँगा कि तुम्हारे रुपये तुम्हें मुबारक हों, मैं जहाँ हूँ वहीं कविता है। यदि कविता कमरे में बैठ कर लिखी जायगी तो वह कमरे की दीवारों की कविता होगी, जीवन के विस्तृत क्षेत्र की नहीं। कविता तो मुझे साधारण अनुभवों से प्राप्त होती है। मैं तो साधारण बातों से ही बहुत कुछ सीखता हूँ। और जो लोग मेरी कविताओं को व्यक्ति की संकुचित सीमाओं में फिट करते हैं वे भूल जाते हैं कि व्यक्ति में किसी न किसी रूप में समाज ही व्यक्त अथवा मुखरित होता है। समाज व्यक्ति से अलग नहीं, समाज अपनी आवश्यकताओं को वाणी देने के लिए अपने ही बीच से किसी एक को आगे कर देता है। मैंने आज तक जो कुछ भी लिखा है उसमें न तो किसी सिद्धान्त और वाद का प्रतिपादन है, न चारणों जैसी प्रचार-प्रवृत्ति, अपितु जिन्दगी की कठिनाइयों से जूझते हुए एक भावप्रवण व्यक्ति का अहम् है, पौरुष

श्रौर आक्रोश हैं। मैं नहीं जानता कि कभी भी बिना प्रेरणा के मैंने कलम उठायी हो श्रौर यदि ऐसा हुआ है तो पाठक स्वयं समझ जायगा।''

किसी प्रसंगवश वार्ता का क्रम बदल गया श्रौर— ''जिन दिनों मैं इंगलैण्ड में था मुझे एक लड़की मिली। उसने वहीं के किसी युवक से कई वर्षों तक प्रेम किया था। प्रणय-प्रदर्शन की अवधि में उस प्रेमी ने सैकड़ों ऐसे प्रेम-पत्र लिखे थे जिनके द्वारा उसने यही व्यक्त करने का प्रयास किया था कि वह कभी भी उस कुमारी को अपने जीवन से अलग नहीं कर सकेगा श्रौर यदि अलगाव हो ही जाय तो वह उसके लिए मृत्यु से कम दुःखद नहीं होगा। लेकिन आगे चल कर जब उसने किसी श्रौर का समर्पण स्वीकार कर लिया तो लड़की ने मात्र इतना ही कहा—(I have lost faith in English language) 'अंग्रेजी भाषा से मेरी आस्था उठ गई है।' मैं तो, भाई, साधारण व्यक्ति हूँ श्रौर ऐसी ही जीवन की साधारण घटनाओं से सीखता हूँ। न तो मुझे शब्द ढूँढ़ने के लिए किसी शब्द-कोश के समीप जाना पड़ता है श्रौर न भाव ढूँढ़ने के लिए जिन्दगी की चहार-दीवारी लाँघनी पड़ती है। नित्य के प्रयोग में आने वाले शब्द ही मेरे मित्र हैं जो मेरे भीतर की आवेग-धारा को चित्र देते हैं, आकार श्रौर स्वर देते हैं।

''क्या भूलूँ, क्या याद करूँ'' शीर्षक पंक्ति की एक कहानी तुम्हें सुनाऊँ? यह मेरे कवि श्रौर व्यक्ति मन की उस स्थिति को व्यक्त करती है जब कहीं भी प्रकाश की किरण नहीं दीखती थी। यदि मेरी सम्पूर्ण रचनाओं को यथार्थ रूप में पढ़ा जाय तो भी सहज ही स्पष्ट हो जायगा कि मैंने दुःख में भी पलायन को नहीं अपनाया, वरन् दुःख को उसकी अन्तिम सीमा पर जाकर देखा है—झेला है, जहाँ वह गहनतम है श्रौर उसके पार मुझे किरणों का आभास मिला है—

पीड़ा का स्वर आँसू लेकिन
पीड़ा की सीमा पर मैं तो
रो न सकूँगा श्रौर न तुझको
रोने दूँगा हे मन वीणे।

''हाँ, तो मैं भूल गया। तुम्हें बताऊँ मेरी माँ ने अच्छे श्रौर बुरे सभी प्रकार के दिन देखे थे। मुझे याद हैं बचपन के दिन, जब गुड़ियों पर चारों श्रोर प्रसन्नता बिखरी रहती थी श्रौर लगता था सृष्टि का सम्पूर्ण आनन्द-सुख-वैभव मेरे ही छोटे से घर में बन्द हो गया है। लेकिन वैसे ही एक वर्ष गुड़ियों पर मैंने अपनी माँ को देखा, वह आँगन में बैठी गिट्टी तोड़ रही थी, किसी बात पर कह रही थी, मनई का भूलै, का याद करै।

और मैं कह सकता हूँ, क्या भूलूँ क्या याद करूँ मैं इस एक पंक्ति से ही जीवन की जिस यथार्थ स्थिति का बोध होता है उसे व्यक्त करने वाला एक भी मुहाविरा निश्चय ही छायावादी शब्द-योजना से नहीं बन सकेगा। तो भाई, मैं तो जीवन का, सहज और साधारण जीवन का ही गायक हूँ, और अपने ही जैसे लोगों के बीच पल-पुस कर, बड़ा होकर, मैं जब कुछ कहने योग्य हुआ तो 'अरथ और आखर' का साधारण-सहज रूप ही मुझे प्रिय लगा। इसीलिए मेरी भाषा जहाँ कहीं उर्दू मिश्रित है वहाँ भी वह जिन्दगी से दूर नहीं होने पाई है। उर्दू वा मेरे घर में पढ़ी-लिखी जाती थी—यूँ उर्दू को मैं हिन्दी से अलग नहीं मानता, बल्कि उसी की एक शाखा समझता हूँ। जहाँ मेरे माता-पिता रामायण और विनय-पत्रिका का पाठ करते थे, वहीं मेरे मामा को उर्दू के हजारों शेर याद थे जिन्हें सुनाते न वे थकते थे, न उनका कोष खाली होता था।"

मैंने बीच में ही टोक कर पूछा, "बच्चन जी, जब छायावाद अपने उत्कर्ष पर था तब भी आप उससे प्रभावित हुए बिना ही नया स्वर लेकर आये थे, क्या मैं इसका कारण जान सकता हूँ?"

"देखो भाई, यह तो रिसर्च करने वाले का कार्य है कि वह उस युग विशेष की सारी स्थितियों का अन्वेषण करे और यदि ऐसा किया जायगा, तो लगेगा—कम-से-कम मैं तो यही मानता हूँ कि देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं से छायावादी कविता कोसों दूर थी—मैं छायावाद के प्रशंसकों में हूँ, मुझे उसमें अनेक ऐसे तत्त्व मिलते हैं जो काव्य के विशिष्ट तत्त्व हैं, परन्तु वह कविता युग की कविता नहीं थी। और क्या यही कारण नहीं था कि मधुशाला की इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई जिसकी कल्पना मैंने नहीं की थी। और आज भी जब 'मधुशाला', 'मधुशाला' की पुकार करते हुए लोगों को सुनता हूँ तो सोचता हूँ कि स्वतन्त्रता के बाद भी देश में 'मध्ययुगीन' स्थिति ही बरकरार है जिसके विरुद्ध मधुशाला का स्वर लोगों को आकर्षक लगता है। आज भी पुत्र पिता की अनुमति के बिना शादी नहीं कर सकता, आज भी निम्न जातियों के लोग खुल कर ऊँची जाति के लोगों का मुकाबिला नहीं कर सकते। मेरा एक धोबी है। उसके घर से चिट्ठी आई है कि उसका भाई ग्राम पंचायत के सभापति-पद के लिए खड़ा हुआ है लेकिन उसके गाँव के ब्राह्मण कहते हैं कि यदि तू चुन लिया गया तो हम तुझे मार डालेंगे। आखिर कुछ तो कारण है, हम तो आज भी मध्ययुग में ही साँस ले रहे हैं। यही वजह है कि 'मधुशाला' की पंक्तियाँ श्रोताओं को क्षण भर के लिए सारी संकीर्णताओं के ऊपर उठा देती हैं, उनमें

विद्रोह और शक्ति का संचार करती हैं। जब मैं 'मधुशाला' के साथ आया था मुझे अनेक विशेषण मिले थे लेकिन 'मधुशाला' 'छायावादी गल्ले' में नहीं डाली जा सकी, और वह आज तक अपना एक विशेष आधार विशेष स्थान बनाए हुए है।

"आपकी सर्वप्रथम रचना कौन-सी है ?" प्रश्न के उत्तर में बच्चन जी ने कहा, "तुम्हें आश्चर्य होगा कि मेरी प्रथम छपित रचना कविता न होकर एक लेख था जो प्रयाग से प्रकाशित होने वाली 'विज्ञान' पत्रिका में छपा था। मैंने वह लेख डा० सत्यप्रकाश के कहने पर लिखा था और जब मेरा लेख छपा तो उस अंक की कई प्रतियाँ खरीद लीं और परिचितों में बाँटी। मेरी पहली कविता जबलपुर से प्रकाशित होनेवाली 'प्रेमा' में 'मध्याह्न' शीर्षक से शायद १९३१ में छपी थी और बाद में 'मधुशाला' की दस रूबाइयाँ १९३३ ई० में 'सरस्वती' में छपी। यूँ तो मैंने १९२० ई० के करीब ही कुछ जोड़ना शुरू किया था; किन्तु उस काल की कविताएँ अब याद भी नहीं रहीं। आगे चल कर १९२९ से लिखी कुछ कविताओं को 'तेरा हार' नाम से प्रकाशित कराया गया था।"

आजकल बच्चन जी उठते-बैठते भगवान का नाम बहुत लेते हैं। मैंने उनके 'एकान्त संगीत' की कुछ पंक्तियों—

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।
मनुज पराजय के स्मारक हैं
मठ, मस्जिद, गिरिजाघर—

को दुहराकर पूछा कि "अब आप बड़े आस्तिक बन गये हैं–क्या कारण है ?"

उन्होंने कहा, "मैं नास्तिक तो कभी नहीं था। वस्तुतः यह तो एक बड़ा मनोवैज्ञानिक रहस्य है कि बहुत-सी बातों में विश्वास करते हुए भी हम कहते हैं उनमें विश्वास नहीं रखते। शब्दों से विश्वास का इन्कार नहीं व्यक्त होता। हम सचमुच किस चीज में विश्वास कर रहे हैं यह तो हमारा अन्तर्मन ही जानता है ?"

"क्या मैं जान सकता हूँ वे बाबाजी कौन हैं जिनके कहने पर आपने 'गीता' का अवधी में अनुवाद किया है ?"

"तुम यह जान कर क्या करोगे ?"

"आखिर सुनूँ भी ?"

"होंगे कोई, छोड़ो; मैं तुमसे कह आया हूँ कि मेरे रिसर्च गाइड ने कहा था कि यदि डब्लू० बी० ईट्स जादूगरी में विश्वास करता भी था तो हमें इससे क्या

मतलब; हमें उसकी रचनाओं से काम है और यह देखना है कि उसके उस विश्वास विशेष का कौन-सा रूप उसकी रचनाओं में मिलता है।"

"तो आप अब आस्तिक हैं ?"

"जरूर, मैं तो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता हूं, उसके स्वरूप को जानने का दावा नहीं करूंगा। जानना विश्वास की शर्त नहीं है। वास्तव में जो जाना हुआ है उसमें विश्वास कैसा ? देखो जीवन क्या है, क्या नहीं है, यह प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। मैं तो जो कुछ अनुभव करता हूं यदि उसे कभी वाणी देने की आवश्यकता महसूस करता हूं तो उससे चूकता भी नहीं।"

"अच्छा एक बात और—आज जो आप लोक-धुनों पर आधारित कविताएँ लिख रहे हैं इनका रूप आपके मन में क्यों और कैसे जगा, क्या कोई विशेष कारण है ?"

"मैं तो कोई विशेष कारण नहीं जानता। अचानक मेरे मन में उन धुनों ने लहराना प्रारम्भ किया और मुझे लगा इन्हें आकार देना चाहिए, इन्हें बांधना चाहिए। मेरी नयी पुस्तक 'त्रिभंगिमा' अभी-अभी प्रेस में दी गई है। वह फरवरी तक छपेगी, उसकीभूमिका पढ़ लेना। हां, इस प्रकार की रचनाओं की इससे बढ़ कर सफलता क्या होगी कि मुझे दूर देहातों से प्रशंसा के पत्र आते हैं और उन्हें वे लोग भी पढ़ते हैं जिन्हें खड़ी बोली की कविता से कोई वास्ता नहीं है।"

दूसरे दिन जब बच्चन जी ने अपनी लोक-धुनों पर आधारित रचनाओं के विषय में कहना शुरू किया तो जैसे उन्हीं के भावों में डूबने-से लगे, और थोड़ी देर बाद उन्हें गाने लगे।

'गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है'—का भाव स्पष्ट करते हुए बच्चन जी ने कहा, "मैं इंगलैण्ड गया तो था अपने रिसर्च के सिलसिले में किन्तु जब कविता का मूड बनने लगा तो मुझे चिन्ता हो चली। आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास। मैंने सोचा हरि भजन भी हो, और थोड़ी कपास भी ओट ली जाय। मुझे जहाँ अपने रिसर्च के लिए ठंडे बेसमेंट (एक तल्ला नीचे) बैठना पड़ता था, वहीं मन के अन्दर आग भी जलती रहती थी जिसे स्वर और शब्द देना था। बहुत कुछ सोचने के बाद मैंने उन्हीं भावों को—अर्थात् शोध का कार्य जहाँ ठंडा था कविता की आग वहीं प्रज्वलित थी—इस रूप में व्यक्त किया :

गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है।
सख्त पंजा, नस-कसी चौड़ी कलाई।
और बल्लेदार बाहें,

और आँखें लाल चिन्गारी सरीखी,
चुस्त औ तीखी निगाहें,
हाथ में घन और दो लोहे निहाई—
पर धरे तो देखता क्या,
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है।

"यद्यपि मैं यह भी जानता था कि यदि कविताएँ ही लिखता रह गया तो यहाँ की यात्रा ही व्यर्थ हो जायगी क्योंकि खाली हाथ भारत लौट जाने पर लोग व्यंग करेंगे कि हिन्दीवाला गया था अंग्रेजी में रिसर्च करने और वह भी कैम्ब्रिज में, लौट आया न ? फिर भी मैंने बहुत कुछ हरि भजन भी किया और उसी के साथ कपास भी ओटी मैंने। जहाँ पी० एच० डी० की डिग्री लेकर आया वहीं १०० से ऊपर कविताएँ भी लिखीं जो 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' संकलनों में आईं।"

और फिर आधुनिक समीक्षा की चर्चा चल पड़ी तो उसकी उपलब्धि तथा अभावों पर भी बच्चन जी ने अपना अभिमत व्यक्त किया जिससे आज का प्रत्येक रचनाकार सहमत है। यहीं व्याज से ईट्स का नाम आ गया और बच्चन जी ने ईट्स की अत्यन्त ही प्रिय रचनाएँ—जो उन्हें प्रिय हैं—सुनाई तथा उनका हिन्दी अनुवाद भी सुनाया।

बच्चन जी द्वारा लगाये गये फूलों तथा गढ़े गये मूर्तिसम पाषाणखण्डों को भी मैंने देखा जिन पर कहीं 'मानस' की चौपाइयाँ लिखी थीं तो कहीं मृत्यु का भयद रूप उपस्थित करनेवाले बिम्ब थे। कहीं जटायु की कारुणिक स्थिति का बोध हो रहा था तो कहीं कठिनाइयों में मुस्कराने की चेष्टा करती मानव आकृतियाँ थीं।[1]



१. (मैंने बच्चन जी की बातों को अपनी भाषा दी है। यद्यपि चेष्टा की है कि भरसक उन्हीं की भाषा रहे, परन्तु स्मृति स्मृति ही है। अतः जहाँ बातें स्पष्ट नहीं हो सकी हैं वहाँ दोष मेरा है, बच्चन जी का नहीं।)

बच्चन का काव्य-व्यक्ति

तीन

यदि इन्द्रधनुष की चादर में बारूद बँधी हो और बारूद का विस्फोटक तत्त्व रह-रह कर हर हवा को झुलस देने के प्रयास में चिनक उठा करे। फिर धीरे-धीरे सारी विस्फोटक शक्ति समाप्त हो जाय। इन्द्रधनुष के सभी रंग गलकर, मिलकर श्वेत, धवल बन जायें और अन्त में एक सफेद मलमल का उत्तरीय हवा में लहरा उठे—ऐसा उत्तरीय जिसे धारण कर किसी बड़े घर की कोई नवयौवना विधवा शिव-मन्दिर की देहरी के समीप खड़ी एक विचित्र दृष्टि से कभी अपने को और कभी मन्दिर-प्रांगण में बैठे विभिन्न आयुवाले दर्शनार्थियों को, तथा कभी-कभी ऊपर, बहुत ऊपर किसी सुदूर क्षितिज की ओर भी निहार लेती हो।

और जब हम बच्चन की सम्पूर्ण रचनाओं के बीच से उभरने वाले व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं, उसका परिचय प्राप्त करने का प्रयास करते हैं; तो उपर्युक्त चित्र अत्यन्त ही उपयुक्त तथा यथोचित लगता है। बच्चन का काव्य-व्यक्ति एक विद्रोही युवक के रूप में रंगमंच पर आता है, जिसकी विद्रोही प्रवृत्ति और जिसका यौवनोचित मनोभाव करीब तीस वर्षों की लम्बी अवधि तक निरन्तर प्रज्वलित रहते हैं। उसे देखकर दर्शकों को आश्चर्य भी होता है। कुछ आस-पास अगल-बगल पूछते भी हैं, फुसफुसाते भी हैं—"क्या यह व्यक्तित्व देश और काल की सीमाओं से परे है। क्या इसे जरा नहीं व्याप सकती? क्या इसका वपु किसी विशेष धातु से निर्मित है, जिसका ह्रास नहीं होता?" लेकिन तभी रंगमंच पर कुछ भाग-दौड़-सी होती दीखती है। बिजली की बत्तियाँ फ्यूज हो जाती हैं, दर्शक भी घबराने लगते हैं; कि अचानक हाल फिर प्रकाशित हो उठता है—और पिछले तीस वर्षों से विद्रोही की भूमिका निभानेवाला अभिनेता एक मठ के आचार्य के रूप में कुछ शिष्यों से जीवन और जगत के दार्शनिक पक्ष पर विचार-विमर्श करता हुआ दीख पड़ता है।

वैसे पूरे नाटक की अभिनय-अवधि में उसे कितनी ही बार रोते, कलपते, हँसते, गाते, झूमते और क्रोधावेश में बाँहें उठा-उठाकर चिग्घाड़ते भी देखा जाता है, सुना जाता है। कभी-कभी वह आत्म-केन्द्रित भी हो जाता है, कभी-कभी दूसरे के,

समाज के दुःख को ही अपना बना लेता है तो भी उसे देखने पर ऐसा नही लगता कि उसकी, समाज के दुःख के प्रति व्यक्त अभिव्यक्ति अधिक प्रभविष्णु है या वैयक्तिक; यानी उसका व्यक्ति और उसका समाज दोनों ही एक विन्दु के अनेक कोण-से दीखते हैं। वह तो मानता भी है कि मनुष्य समाज से कहीं अलग नहीं। हाँ, कभी-कभी समाज में रहते हुए ही उससे विद्रोह की भी प्रवृत्ति जगती है।

बच्चन के काव्य-व्यक्ति के सहज रूप की तुलना का भाव मन में उभरते ही 'कामायनी' का मनु स्मरण हो आता है। मनु, खण्ड प्रलय पश्चात् देव-संस्कृति के विनष्ट खंडहर के ढूह पर अकेला, चिंतित। ऊपर मौन, मूक आकाश और नीचे अतल, असीम सागर की उत्ताल लहरें। धीरे-धीरे मनु का मन शान्त होता है। विगत धुँधला पड़ने लगता है। बीते दिनों के सुखद-क्षणों की स्मृति से उत्पन्न टीस मन को कुरेद-कुरेद जाती है। तब भी वर्तमान को कहाँ छोड़े। मनु को संगी की, सहयोगी की आवश्यकता अनुभव होती है। सहयोगी यानी समाज। लेकिन मनु का स्वतन्त्रताकामी मस्तिष्क संगी के सामीप्य-सुख में भी अपने को खो नहीं पाता। वह आगे बढ़ता है। दृश्यों का पटल परिवर्तित होता है। एक के बाद दूसरा। प्रकृति अपने नित नूतन, नित नवीन रूपाकारों से उसे आकर्षित करती है। चलते-चलते वह रुकता है। एक अन्य सौन्दर्य प्रतिमा का मुग्धकारी लावण्य उसे खींचता है। वह खिचता चला जाता है, खिचता चला जाता है। किन्तु भाग्य की विडम्बना। नवीन सौन्दर्य-प्रतिमा उसकी आलिंगन-उत्सुक भुजाओं की सीमा से परे, परे हटती लगती है। वह पुनः संघर्षों के व्यूह में उलझ जाता है। कुछ चोटें भी आती हैं। मात्र तन ही आहत नहीं होता, मन भी आहत होता है। घाव फिर हरे होने लगते हैं। अभी पिछला दर्द भी तो भूला नहीं है। दर्द क्या कभी भुलाया भी जा सकता है, चाहे वह कितना ही पुराना क्यों न हो? और तभी उसे अपनी भुजाएँ शिथिल लगने लगती हैं। भीतर वह उत्साह नहीं, जो प्रारम्भ में था। पाँवों में पृथ्वी नाप लेने की ताकत थी पर वह गई कहाँ। और तब मनु को किसी ऐसी शक्ति का स्मरण आता है जो कभी क्षीण नहीं होती, जिसका स्नेह कभी पुराना नहीं पड़ता। और वह उसी चिर आनन्द की खोज में कैलास पर्वत की ओर चलने को तत्पर हो जाता है।

× × ×

उम्र तो नहीं मालूम, किन्तु अनुमानित अवस्था बीस-पच्चीस के निकट लगती है। एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र युवक है, जिस पर उमर खैयाम के जीवन-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। वह जानता है, जीवन क्षणिक है, यह जगत क्षणिक

है। इसीलिए जीवन की जो भी अवधि मिली है, उसका मुक्त उपभोग ही उसे प्रकृत लगता है। साथ-ही-साथ देश और काल की स्थितियों को भी वह भुला नहीं पाता। वैयक्तिक सुख-सुविधा के क्षेत्र में उसकी नैसर्गिक भूख जिस स्वाभाविक मनोदशाओं के लिए संघर्ष करती तथा सामाजिक मान्यताओं, परम्पराओं का उपहास करती दृष्टि आती है, उतनी ही आस्था और आत्मशक्ति के साथ वह देश की पराधीनता को दूर करने का प्रयत्न भी करता है। 'सिर जाए तो जाए, पर हिन्द आजादी पाए' गीत की पंक्तियाँ गुनगुनाते हुए वह देश में नवीन जागरण का शंख फूंकना चाहता है। किन्तु यह क्या ? एक ओर समाज की आदर्शवादी आँखें उसके वैयक्तिक क्रिया-कलापों को अहितकर, अस्वास्थ्यकर मानकर उसके प्रति घृणा का भाव व्यक्त करने लगती हैं, तो दूसरी ओर शासन की स्वार्थी कामनाएँ देश में जग रही स्वाधीन चेता भावना-धारा को कुचल डालने का षड्यंत्र रचने लगती हैं। देश के कोटि-कोटि जनों में जागृत, प्रज्वलित स्वतंत्रता की आग कुछ समय के लिए बुझने लगती है। नेता गण अंगारों को राख से ढकने लगते हैं कि उपयुक्त हवा के चलने पर राख अपने-आप उड़ जायेगी और अग्नि की आत्मा फिर अपनी पूरी शक्ति से अवांछित पदार्थों को भस्म कर डालने के निमित्त प्रज्वलित हो उठेगी।

युवक अपने को चारों दिशाओं से उपेक्षित और तिरस्कृत समझने लगता है। वैयक्तिक स्तर पर उसे अपना मनोभाव कहीं भी अस्वाभाविक नहीं लगता। सामाजिक स्तर पर स्वाधीनता की चेतना को भी वह किसी भी स्वाभिमानी देश के लिए अनिवार्य मान बैठा है। इस प्रकार उसे दूसरे स्वार्थ और सड़ी-गली मान्यताओं के आधार पर ढोंगी लगते हैं। और दूसरों की दृष्टि में वह स्वयं हास्यास्पद बन जाता है। अपनी उपेक्षा और स्वभावजन्य प्रवृत्तियों के विरोध के कारण उसमें विद्रोह की अग्नि सुलग उठती है। उसे एहसास होने लगता है कि यदि स्वाभिमान और अपने व्यक्तित्व की रक्षा करनी है तो समाज और शासन की अर्थहीन मान्यताओं का विरोध करना ही होगा। और वह पूरे विश्वास, पूरे उत्साह के साथ स्वनिर्मित पथ पर, किसी ओर की प्रतिक्रियाओं की चिन्ता किए बगैर, चल पड़ता है।

वह चलता है और लोग उसके पीछे-पीछे तालियाँ बजाते हैं। वह पीता नहीं, किन्तु बिना पिये ही उसके पाँव लड़खड़ाते हैं, आँखें लाल-लाल अंगारों-सी चमकती हैं। बोलते-बोलते जबान कुछ-का-कुछ बोल जाती है और कभी-कभी उसकी बातें लोगों की समझ में भी नहीं आतीं। कुछ बातों का विशेष अर्थ निकाल कर भी लोग उसके विरुद्ध भाँति-भाँति के आरोप सिद्ध करने लगते हैं। लेकिन उसमें इतनी

आत्मशक्ति है कि लोगों के दुर्व्यवहार और उपहासों पर वह मुस्कुरा देता है। कभी-कभी स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास भी करता है। वह कहता है—

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय।

और लोग ठठाकर हँस पड़ते हैं। लोगों का बिचार है कि तुम अपनी उन बातों का प्रचार क्यों करते हो, जिनके प्रचार की अनुमति समाज ने नहीं दी है। यह तो ठीक है, कि जीवन नश्वर है। शरीर मिट्टी का है लेकिन, मन की मस्ती को थोड़ा कम करो। वैसे ही रहने का प्रयत्न क्यों नहीं करते, जैसे दूसरे रहते हैं? किन्तु युवक पर इन बातों का कोई असर नहीं होता। वह मन आयी बातों को अस्वाभाविक नहीं मानता। वह सोचता है, कि क्या जो भाव मेरे अन्तर में उत्पन्न होता, वह दूसरों के हृदय में नहीं जगता? और यदि मानव के नाते सबका हृदय एक विशेष अवस्था में एक ही प्रकार का अनुभव करता है, तो आखिर और लोग मुझे लांछित करने का प्रयास क्यों करते हैं? मुझे धर्माडम्बरों में विश्वास नहीं है, तो नहीं है। मैं किसी भी प्रलोभन के समक्ष स्वयं को समर्पित करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। लेकिन एक मनुष्य के नाते और मानवीय प्रकृत प्रवृत्तियों के नाते मैं अपने मन को रोक भी तो नहीं सकता :—

मुझको न सके ले धन कुवेर
दिखलाकर अपना ठाट-बाट,
मुझको न सके ले नृपति मोल,
दे माल-खजाना, राज-पाट,
अमरों ने अमृत दिखलाया,
दिखलाया अपना अमर लोक,
ठुकराया मैंने दोनों को
रखकर अपना उन्नत ललाट,
बिक, मगर, गया मैं मोल बिना
जब आया मानव सरस-हृदय।
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय।

—मधुवाला

लेकिन, भला यह दुनिया किसी के अहम् को कैसे स्वीकार कर सकती है? उक्त युवक की भी स्पष्टता लोगों को अखरने लगती है। लोग तरह-तरह से उसे

लांछित-अपमानित करने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करने लगते हैं। और इस सारी संघर्ष क्रिया में युवक को अपनी आत्मशक्ति पर अधिकाधिक विश्वास बढ़ने लगता है। वह न तो सत्य को छिपाने का प्रयास करता है और न किसी के आधारहीन व्यंग्य को ही स्वीकार करने को तत्पर हो पाता है। संघर्ष चलता रहता है। जब-जब आत्म-स्थिति के प्रकाशन का अवसर आता है; युवक अपनी युवकोचित प्रवृत्तियों के अनुकूल उत्तर भी दे देता है। लोग-बाग, पोथी-पत्रों से उसे जब किसी परोक्ष सत्ता की ओर उन्मुख होने की राय मिलती है, अथवा लोग भय भी दिखलाते हैं कि उस पार वाला ही सब कुछ है, बिना उसकी प्रार्थना के जीवन सूना-सूना और व्यर्थ है। तो युवक अनायास मुस्करा पड़ता है :—

जग में रस की नदियां बहतीं,
रसना दो बूंदें पाती है,
जीवन की झिलमिल-सी झाँकी
नयनों के आगे आती है,
स्वर-ताल-मयी वीणा बजती,
मिलती है बस झंकार मुझे,
मेरे सुमनों की गंध कहीं
यह वायु उड़ा ले जाती है,
ऐसा सुनता, उस पार प्रिये,
ये साधन भी छिन जायेंगे,
तब मानव की चेतनता का
आधार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

—मधुबाला

और वह इसी असार संसार को सार स्वरूप मानकर भौतिक उपकरणों में ही अपने को उलझाए रखना, जीवन की सार्थकता का साधन मानता है। यौवन क्या इतनी जल्दी पराजित हो सकता है? और फिर यह युवक, इसमें तो बला का आत्मतोष है। वह तो मिट जाने में भी किसी प्रकार की विशेष चिन्ता का अनुभव नहीं करता। क्योंकि जानता है कि मिटना तो है ही, फिर सोच क्या? और इन्हीं मनोविकारों के आधार पर प्रत्येक उपलब्धि का उपभोग करना चाहता है। यदि किसी सागर के सौन्दर्य को, उत्ताल तरंगों के आलोड़न-विलोड़न, नर्तन को देखता है तो एक बार

उसमें कूद कर अपनी भुजाओं की शक्ति को भी नाप लेना चाहता है। यह भी सत्य है कि सागर की शक्ति का ज्ञान उसे है, और सम्भवतः सागर के सम्मुख उसे अपनी शक्ति न्यून भी लगती है किन्तु वह तो मात्र व्यक्ति नहीं, एक समाज का अगुआ है। यदि वह स्वयं तट से लौट जायेगा तो दूसरे युवक किस प्रकार प्रोत्साहित होंगे? इसीलिए अपने लिए किसी सुखद-दुःखद परिणाम की चिन्ता किए बिना, वह यह सोचकर लहरों को आजमाने के लिए बढ़ चलता है कि युवक भले डूब जायँ, क्या कभी यौवन भी डूब सकता है? यदि वह—"किन्तु पाऊंगा नहीं कर आज अपने पर नियंत्रण"—अपने आप पर नियंत्रण नहीं कर पाता, तो उसी प्रकार दूसरे युवक ही क्यों करें? इसीलिए तो वह वांछित मंजिल तक पहुँचना ही अपना ध्येय मानता है:—

पोत अगणित इन तरंगों ने
डुबाए, मानता मैं,
पार भी पहुँचे बहुत-से—
बात यह भी जानता मैं,
किन्तु होता सत्य यदि यह भी—
सभी जलयान डूबे,
पार जाने की प्रतिज्ञा,
आज बरबस ठानता मैं,
डूबता मैं, किन्तु उतराता
सदा व्यक्तित्व मेरा
हों युवक डूबे भले ही
है कभी डूबा न यौवन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण।

—मधुकलश

उसे सबसे अधिक चिन्ता अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की है। इसी व्यक्तित्व की पवित्रता सिद्ध करने के लिए वह उन अपराधों के विरुद्ध सफाई भी पेश करता है जो उसके नाम के साथ जोड़ दिए जाते हैं। वह हर तरह से अपने को मानवोचित कहने-कहलाने का प्रयत्न करता है, फिर भी दुनिया उस पर विश्वास क्यों करले? सिर उठाकर चलनेवाले, उस पर भी; अपनी कमजोरियों को भी छिपाने का प्रयास न करनेवाले को समाज कभी सुख से छोड़ता है भला? परिणाम स्वरूप उसे भी

पथ-भ्रष्ट, अनैतिक, अनावश्यक प्रभृति विशेषताओं से विभूषित करने का प्रयत्न किया जाता है। वह सब की सुनता है, पर करता अपने ही मन की। किसी का कोई प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। वह स्वयं को चाहे पूर्ण भले ही न समझता हो किन्तु अपने प्रत्येक कार्य को उचित अवश्य ही समझता है। यही नहीं, यौवनानुकूल मनोभावों के कारण वह कर्म को महत्त्व देता है, किंकर्तव्यविमूढ़ और प्रमाद की स्थिति उसे सह्य नहीं। समाज के निर्णय पर तो उसकी आस्था टिकती नहीं। साथ ही वह अपने ही जैसे अनेक को देखता है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ दूसरे किसी भय से मौन हो जाते हैं, वह सब कुछ को प्रकट करता चलता है। जैसे उसे यौवन की चाहें और उमंगें प्रिय हैं, उसी प्रकार प्रकृति में भी, सृष्टि में भी वह उसी यौवन को महत्त्व देता है, उसी की कामना करता है :—

फल-भरे तरु तोड़ डाले,
शांत मत लेकिन पवन हो
वज्र घन चाहे गिराए,
किन्तु मत सूना गगन हो,

वह बहा दे बस्तियों को
पर न हो जल-हीन सरिता,

हो न ऊसर देश, चाहे—
कंटकों का एक वन हो,

पाप की ही गैल पर
चलते हुए ये पाँव मेरे
हँस रहे हैं उन पगों पर
जो बँधे हैं आज घर में।
हैं कुपथ पर पांव मेरे
आज दुनिया की नजर में।

—मधुकलश

वह मौन, अकर्मी जनों पर केवल हँसता ही नहीं वरन् धर्म और समाज के ठेकेदार पण्डितों और मुल्लाओं की आवाज को भी अनसुनी करता चलता है। उसे धर्म और फिरकों के नाम पर रक्तपात करनेवालों के कहे पर कान देने की फुर्सत कहाँ है। वह तो अपने सपनों की मधु-सिंचित डगर पर बढ़ते चलने की आकांक्षाओं से उद्वेलित है :—

यह नहीं, सुनता नहीं, जो
शंख की ध्वनि आ रही है,
देव-मंदिर में जनों को—
साधिकार बुला रही है,

कान में आती अजानें,
मस्जिदों का यह निमंत्रण,

और ही संदेश देती
किन्तु बुलबुल गा रही है,
रक्त से सींची गई है
राह मन्दिर-मस्जिदों की,
किन्तु रखना चाहता मैं
पाँव मधु-सिंचित डगर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नजर में।

—मधुकलश

इसी मधु-सिंचित डगर पर चलने को आतुर उसके पाँवों को देखकर लोग उसके मनोभावों को वासनामय कहने लगते हैं। सम्भव है, यदि वह अपनी स्थितियों का स्पष्टीकरण न कर, करता चाहे जो भी, किन्तु मौन रह जाता, तो लोग उसे साधु मान लेते, किन्तु उसे असाधु कहलाना प्रिय है, वंचक नहीं। इसीलिए वह बार-बार अपनी यौवनोचित इच्छाओं की, क्षणिक इच्छाओं की, दुहाई देता है कि लोग उसकी सही स्थिति का सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन तो करें ? लेकिन, किसे समय है कि तल तक जाकर वास्तविकता का अनुभव प्राप्त करे ? दुनिया की आँखें तो ऊपर-ऊपर से ही अतल के सम्बन्ध में एक धारणा बना लेती हैं। जब वह अपने दूसरे युवक साथियों की ओर देखता है तो वे भी चुप लगा जाते हैं। कोई कुछ बोलता नहीं और तब उसे स्वयं कहना पड़ता है :—

कल छिड़ी, होगी खतम कल
प्रेम की मेरी कहानी,
कौन मैं, जो रह सकेगी
विश्व में मेरी निशानी ?
क्या किया मैंने, नहीं जो
कर चुका संसार अब तक ?

वृद्ध जग को क्यों अखरती है
क्षणिक मेरी जवानी ?
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है
छल-रहित व्यवहार मेरा।
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा।

—मधुकलश

जो दुनिया से नहीं हारता, वह खुद से हार जाता है। अब भी भुजाओं में वही सामर्थ्य रहती है पर मन में उत्साह नहीं, पांवों में वही धरती नाप लेने की शक्ति; पर मंजिल का पता नहीं। जिस प्रिय को सम्बोधित कर वह घोषित कर आया था :—

इस पार प्रिये तुम हो, मधु है
उस पार न जाने क्या होगा।

—मधुबाला

वह बीच पथ में ही छोड़ कर वहाँ चली जाती है जहाँ जीवित प्राणी न तो पहुँच पाता है और न जिसके बुला लेने का कोई साधन ही सृष्टि में उपलब्ध है। संसार तो विरोधी था ही, शासन की दुर्व्यवस्था भी कम पीड़ादायक नहीं थी और उस पर भी जो एकमात्र शान्ति का हेतु था, वह भी बड़े दुःखद क्षणों में अकेला छोड़ गया। युवक की आँखें ही नहीं भर आतीं, मन और मस्तिष्क सब जैसे टूट जाते हैं, विक्षिप्तावस्था को वह पहुँच जाता है।

और फिर तो नियति के क्रूर करों द्वारा उत्पीड़ित युवक-मन चारों ओर निराशा-अवसाद भरे वातावरण को पाकर पागल-सा हो उठता है। जो समाज और लौकिक मान्यताओं की अवहेलना करना अपनी शक्ति का, सामर्थ्य का पर्याय समझता रहा है, वही अब मृत्यु को ही जैसे जीवन के लिए परम आवश्यक मानने लगता है।

अकेला जीवन जीना ही क्या ? और अपनी ऐसी ही मानसिक स्थितियों के कारण उसकी पिछली मस्ती अवसाद में बदल जाती है, हाला से भरे प्याले हलाहल बन जाते हैं। वह जब कभी सांसारिक सुखों का स्मरण करता है तो उसे अपना जीवन सृष्टि में सब से अधिक दुखी, सबसे अधिक पीड़ादायक प्रतीत होता है। अब

उसके लिए सुख का साधन मात्र मृत्यु रह जाती है जिससे भौतिक दुःखों का उन्मूलन हो जायगा। और वह जैसे इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते अपने आप तक से विद्रोह कर बैठता है। फिर भी चैन की साँस नहीं।

और तभी उसका उर्वर मस्तिष्क एक काल्पनिक साथी का निर्माण कर लेता है। अपने से भागकर भी कहाँ जाय? अब इसी साथी से वह दुःख की घड़ियों को भूल जाने के लिए कभी बात करने का अनुरोध करता है, तो कभी उसी के साथ सो जाने, मर जाने तक की कामना करता है:—

आओ, सो जाएँ, मर जाएँ।
स्वप्न-लोक से हम निर्वासित,
कब से गृह-सुख को लालायित,
आओ, निद्रा-पथ से छिपकर हम अपने घर जाएँ।

—निशा-निमंत्रण

लेकिन, इस मृत्यु-कामना में भी उसका विवेक कुंठित नहीं दीखता। यहाँ तक कि वह अपने रुदन और अवसाद भरी आहों से किसी और को भी निरुत्साहित करना नहीं चाहता। वह अपना दुःख बँटाने के लिए संसार में कोई साथी तो नहीं ढूंढ पाता लेकिन दूसरों का दुःख बँटाने के लिए वह अब भी तत्पर है:—

आओ हम पथ से हट जाएँ।
युवती और युवक मदमाते
उत्सव आज मनाने आते,
लिए नयन में स्वप्न, वचन में हर्ष, हृदय में अभिलाषाएँ।
इनकी इन मधुमय घड़ियों में,
हास-लास की फुलझड़ियों में
हम न अमंगल शब्द निकालें हम न अमंगल अश्रु बहाएँ।
यदि इनका सुख सपना टूटे,
काल इन्हें भी हम-सा लूटे,
धैर्य बँधाएँ इनके उर को हम पथिकों की करुण कथाएँ।
आओ, हम पथ से हट जाएँ।

—निशा-निमंत्रण

सम्भवतः दूसरे दुखिया जनों के ही लिए वह अब आँसू बहाने से भी अपने को रोकना चाहता है। और उसके पास है ही क्या, ले-देकर कुछ आँसू की बूंदें हैं, उन्हें भी क्यों बहा दे? युवक का सतत् संघर्षशील हृदय अपने-आप पर अधिकार पाने का जैसे प्रयास-सा करता है।

आँसू भी न बहाएँगे हम,
जग से क्या ले जाएँगे हम ?
यदि निधनों के अन्तिम धन ये जल-कण भी झर जाएँ।
आओ, सो जाएँ, मर जाएँ।

—निशा-निमंत्रण

लेकिन मात्र मृत्यु की कामना से किसी की मृत्यु हुई है ? (माँगने पर तो मौत भी नहीं मिलती) किन्तु पीड़ा और घनी होती जाती है। दुःख की ऐसी ही विक्षिप्तावस्था में वह अपने काल्पनिक साथी को भी यह कहकर विदा कर देता है कि जाओ, सृष्टि में मेरे जैसे और अनेक दुःखीजन होंगे, उन्हें भी तोष दो। और स्वयं दुःख से मुक्ति पाने के लिए दुःख के सागर में कूद पड़ता है। पहले कुछ नहीं तो प्रकृति थी, तारे थे, रात थी, चाँद था लेकिन अब तो वह ऐसे एकांत में पहुँचता है जिसकी ध्वनि भी घूमकर उसी के पास लौट आती है।

इस एकांत बन्द कमरे में केवल वह है और उसकी स्मृतियाँ। वह पिछली सुखद घड़ियों को न चाहकर भी बार-बार स्मरण करता है और स्वयं जैसे सजीव शरीरधारी न होकर मात्र स्मृति है; ऐसा ही उसे अनुभव होता है। कभी प्रिया से किए गए संकल्पों को याद करता है तो कभी उसकी सहजता को, उसके व्यवहार को। एकाकीपन की विकरालता उसे बार-बार मृत्यु की ओर उन्मुख करती है। जब कभी उसे प्रिया की सुधि आती है तो जीवन भार हो उठता है और वह बड़ी पीड़ा के साथ सोचता है, काश, मेरे भी जीवन के दिन बीत गए होते:—

प्रेयसि, याद है वह गीत ?
गोद में तुझ को लेटा कर,
कण्ठ में उन्मत्त स्वर भर,
गा जिसे मैंने लिया था स्वर्ग का सुख जीत।

प्रेयसि, याद है वह गीत ?
है न जाने तू कहाँ पर,
कण्ठ सूखा, क्षीणतर स्वर,
सुन जिसे मैं आज हो उठता स्वयं भयभीत।

प्रेयसि, याद है वह गीत ?
तू न सुनने को रही जब,
राग भी जब वह गया दब,

तब न मेरी जिन्दगी के दिन गए क्यों बीत ?
प्रेयसि, याद है वह गीत ?

—एकांत संगीत

पीड़ा के इस छोर तक पहुँच कर वह पुन: कठोर हो जाता है। कठोर अपने प्रति भी। जब दु:ख को अकेले ही सहना है, तब किसी और का भरोसा क्या ? और यहाँ से वह फिर अपने चिर यौवन की शक्ति का अनुभव करने लगता है। यदि मस्ती और मधु के दिनों का सुख लिया है तो दु:ख कौन भोगेगा ? क्या कोई किसी का दु:ख बँटाता है; जो उसका बँटाएगा ? और इसी चेतना के साथ जहाँ वह धर्म और ईश्वर तक से विद्रोह कर उठता है, वहीं मानव की अपराजेय शक्ति में उसे पुन: विश्वास होने लगता है। मन्दिरों-मस्जिदों या दूसरे देव-स्थानों में सिर झुकाए खड़ी मानवाकृतियाँ उसे पशुओं-सी लगती हैं। सृष्टि का सारा विषाद उसे अपनी सहन-शक्ति के सम्मुख तुच्छ लगता है। जीवन की यह वह विषादाकुल स्थिति है जब दर्द की अधिकता ही दवा बन जाती है। दर्द इतना अधिक बढ़ जाता है कि दर्द का अनुभव ही नहीं होता। दर्द की ऐसी स्थितियों से गुजरने वाला यदि कुछ बोलता भी है तो उसे पागलपन-जनित प्रलाप मान लिया जाता है।

युवक के भी होंठ फड़क उठते हैं। यदि पीड़ा यही है तो इसे सहन कर ही चुका, कर ही लूँगा। अब पीड़ा से क्या भय ? और वह पीड़ा के क्षणों में भी जैसे अपने आपको ही समझाते हुए कह उठता है :—

विष का स्वाद बताना होगा।
ढाली थी मदिरा की प्याली,
चूसी थी अधरों की लाली,
कालकूट आने वाला अब, देख नहीं घबराना होगा।
आँखों से यदि अश्रु छनेगा,
कटुतर यह कटु पेय बनेगा,
ऐसे पी सकता है कोई, तुझको हँस पी जाना होगा।
गरल पान करके तू बैठा,
फेर पुतलियाँ, कर-पग ऐंठा,
यह कोई कर सकता, मुर्दे, तुझको अब उठ गाना होगा।
विष का स्वाद बताना होगा।

—एकांत संगीत

लेकिन जैसे ज्वार का पानी एक अवधि के पश्चात् अपने उच्चतम बिन्दु तक जाकर फिर नीचे की ओर मुड़ने को बाध्य होता है, ठीक उसी प्रकार पीड़ा की

क्षति के बीच भी जीवन की लालसा बनी रहती है। यह और बात है कि पीड़ा की असहनीय स्थिति से ऊबकर भोक्ता मृत्यु को ही अधिक सुविधाजनक मान ले।

मृत्यु की अन्धकाराच्छन्न घाटियों तक जाकर, पीड़ा के चरम शिखर तक पहुँच कर—जबकि आँसू भी सूख जाते हैं—युवक को जैसे जीवन का संगीत कुछ-कुछ सुखद लगने लगता है। विगत सुख की घड़ियाँ अब भी याद आती हैं; लेकिन अब वह सुख-दुःख की सीमा-रेखा पर कुछ-कुछ तटस्थ दीखता है। आखिर इतने दुःख को सहन करते हुए भी जब प्राण बचे रह गये; तो क्या जीवन को पुनः व्यवस्थित करने का प्रयास नहीं किया जा सकता? और तब वह भी डा० एकबाल जैसे एक तटस्थ भुक्तभोगी की भाँति गुनगुना उठता है :-

मुझे फूंका है सोजे-कतरये-अश्के-मुहब्बत ने
अजब की आग थी पानी के छोटे से शरारे में।

—एकबाल

उसे कभी विश्वास था कि चाहे जगत भले बदल जाय; किन्तु उसका अपना जीवन किसी भी दशा में बदल नहीं सकता, सुखद नहीं बन सकता। क्योंकि संसार में होनेवाले विभिन्न परिवर्तनों से उसे क्या? क्या उसका बीता जीवन, बीती उन्माद की घड़ियाँ फिर वापस आ सकती हैं? लेकिन समय सब कुछ सम्भव बना सकता है। वह अपने-आपको जाँचने-परखने का प्रयत्न करते हुए स्वयं से पूछता है :-

बीते सुख की याद सताती?
अभी बहुत कोमल है छाती,
दुख तो वह है जिसे सहन कर
पत्थर की छाती हो जाए।
तू ने अभी नहीं दुख पाए।

—आकुल अंतर

तभी ऐसा अनुभव होता है कि यह स्थिति किसी परिवर्तन का पूर्वाभास है। और यथार्थ जीवन को स्वीकारने; उसे उसी रूप में जी पाने की हौंस भी दीखती है इसमें :-

रस की कमी नहीं है जग में,
बहता नहीं मिलेगा मग में,
लोहे के पंजे से जीवन

की यह लता दबाओ।
तन में ताकत हो तो आओ।

—आकुल अंतर

और फिर तो वह जीवन की कटुतम चुनौती को स्वीकार करता है। जीवन की लता को तो शोक-संताप रूपी लौह-पंजों के भीतर पिसवा ही चुका है और अगर तब भी लता सूखी नहीं तो उससे निकलने वाला रस, उसे तो पुनः सींचना होगा? और फिर तो वही युवक अपने खंडहर के एक कोने में दीया जलाकर बैठा हुआ दीखता है। यद्यपि वह अब भी मौन है, पर दार्शनिक्-सा जिसने जीवन और जगत की जैसे सारी रहस्य-स्थिति आत्मसात् करली हो। और अब पुन: उसी खंडहर पर एक आलीशान महल बनाना चाहता हो।

जीवन में, एकरसता से बढ़कर कोई दूसरी पीड़ा नहीं हो सकती। अधिकतम रुदन और शोक के पश्चात् जैसे युवक का हृदय पुन: हल्का होने लगता है। अब उसे पुन: हवा का स्पर्श-सुख अच्छा लगता है, फूलों का खिलना अच्छा लगता है और अच्छा लगता है सांसारिक जीवन-व्यापार। तात्पर्य यह कि अब पुन: मृत्यु की घाटियों से वह जीवन के सुरम्य उपवनों की ओर लौट आने को उत्सुक है। मन से, पिछली पीड़ा का एकदम लोप नहीं हुआ है; परन्तु फिर भी वह बार-बार अपने-आप से जैसे प्रश्न करता है, क्या इसी प्रकार गुम-सुम, उदास-सा बैठा रहना जीवन जीने का कोई ढंग है, क्या ऐसे बैठकर पूरा जीवन जी लिया जा सकता है? तभी उसके भीतर से आशा की एक पतली किन्तु तेज किरन-ध्वनि फूटती है :-

है अंधेरी रात, पर
दीवा जलाना कब मना है?
कल्पना के हाथ से कम-
नीय जो मंदिर बनाया,
भावना के हाथ ने जिसमें
वितानों को तना था,
स्वप्न ने अपने करों से
था जिसे रुचि से संवारा,
स्वर्ग के दुष्प्राप्य रंगों से,
रसों से जो सना था,

ढह गया वह; तो जुटाकर-
ईंट, पत्थर, कंकड़ों को
एक अपनी शान्ति की
कुटिया बनाना कब मना है ?

—सतरंगिनी

दुःख की सघनता ही जैसे दुःख के दूर होने का कारण बनती है। जब युवक ने अपने से ही कभी पूछा था कि दुःख तो वह है जिसे सहन करते-करते छाती पत्थर की हो जाए—तब चाहे ऐसा न लगा हो कि वह स्वयं पत्थर की छातीवाला बन गया है; किन्तु आगे चलकर यह विश्वास पुष्ट हो जाता है। 'अगर आसानियाँ हों जिन्दगी दुश्वार हो जाये'—जैसे सिद्धान्त को मानने वाला युवक अतीत की स्मृतियों को पूरी तरह भुलाकर भविष्य की नवीन योजनाओं में अपने को रमा देना चाहता है। जब कभी मन बीते दिनों की याद से दुखता है तो वह उसे सांसारिक नियमों के द्वारा बहलाने का प्रयत्न करने लगता है :-

जो बीत गई सो बात गई।
जीवन में एक सितारा था,
माना, वह बेहद प्यारा था,
वह डूब गया तो डूब गया,
अम्बर के आनन को देखो,
कितने इसके तारे टूटे,
कितने इसके प्यारे छूटे,
जो छूट गए फिर कहाँ मिले,
पर बोलो टूटे तारों पर,
कब अम्बर शोक मनाता है।
जो बीत गई सो बात गई।

—सतरंगिनी

किसी भी स्वाभिमानी से यही अपेक्षा होती है कि वह अपने दुःख को स्वयं सहता है किन्तु अपने सुख को बाँट भी देता है, दे सकता है। बच्चन का काव्य-युवक भी शोक-संतप्त निर्जन मरु को अकेले पार करता है, एकदम अकेले। प्रारम्भ में जिस काल्पनिक साथी का सहयोग था, उसे भी आगे चलकर छोड़ देता है। जब रेगिस्तान की तपन, बालुका राशि तथा अंधड़ों, प्रलय-सदृश तूफान के झोंकों ने उसका कुछ नहीं बिगाड़ा तो और कौन है जो उसका कुछ बुरा कर सके ?

इस प्रकार जीवन के सारे दुःख-ताप में झुलसता जब वह पुनः स्नेह-सागर के तट पर पहुँचता है तो वहाँ से अनेक रूप-रूपिणी लहरों का अनवरत नर्तन उसे भी दीखता है। कभी-कभी उसकी आँखें तरंगायित जल-राशि की ओर भी मुड़ती हैं किन्तु अभी पाँवों की जलन गई नहीं है। इसीलिए अपने को चारों ओर से समेट कर वह आत्म-केन्द्रित होने का पुनः प्रयास करता है।

दुःखद क्षणों के एकान्त व्यक्तिवाद को नवीन सुखद क्षणों में भी जीवित रखने का प्रयत्न करता है। जब दुःख को अकेले झेलना पड़ा, तो सुख के दिनों में सारे जहाँ का दर्द अपने ही दिल में कौन बसाए? अब उसकी रातें भी पहले से अधिक मधुमयी, अधिक आकर्षक और अधिक मादक हो उठी हैं। मन है कि अपने से बाहर-बाहर भी खिंच जाता है किन्तु वह उसे नियंत्रित कर प्राप्ति का पूर्ण उपभोग कर लेने का पक्षपाती है। इसीलिए तो स्पष्टता से घोषित करता है :—

कल सुधारूँगा हुई संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल
आज तो कह दो कि मेरा बन्द शयनागार
सुमुखि, ये अभिसार के पल; चल करें अभिसार।

—मिलन-यामिनी

हाँ, इस नये भवन-निर्माण की योजना भी तो उसने पहले ही बना ली थी। जब प्रकृति में, सृष्टि में प्रत्येक नवनिर्माण किसी-न-किसी खण्डहर पर ही सम्भव हो पाता है, बीते हुए 'कल' के ही शीश पर चरण धर कर तो 'आज' आता है। बीते को सदा चिपकाए रहना भी तो सम्भव नहीं। युवक को दुःख ने जैसे सृष्टि का सारा रहस्य समझा दिया है। उसने भी तो देखा है :—

क्रुद्ध नभ के वज्र दंतों
में उषा है मुसकराती,
घोर गर्जनमय गगन के
कण्ठ में खग-पंक्ति गाती,
    एक चिड़िया चोंच में तिनका
    लिए जो जा रही है,
वह सहज में ही पवन
उच्छ्वास को नीचा दिखाती।
    नाश के दुख से कभी
    दबता नहीं निर्माण का सुख,

प्रलय की निस्तब्धता से
सृष्टि का नव गान फिर-फिर ।
नीड़ का निर्माण फिर-फिर ।
नेह का आह्वान फिर-फिर ।

—सतरंगिनी

जब जीवन जीना ही है तो क्यों नहीं प्रसन्नता के साथ जिया जाय ? इस प्रश्न के साथ ही युवक का परम्परागत संस्कारगत स्वाभिमान जागृत होता है और फिर तो दुनिया की चिंता से मुक्त मात्र वैयक्तिक चिन्ताओं, वैयक्तिक तृषा की तृप्ति में वह तन-मन से जुड़ जाता है। जिस विछोह के ताप ने उसे दग्ध किया था, वह उस ताप को मिटा देना चाहता है । आज उसे सृष्टि में केवल रस, केवल मधु-माधुर्य ही दीख पड़ते हैं । कभी-कभी खिड़कियों के अचानक खुल जाने पर बाहर की हवा का जब स्पर्श होता है तो शरीर के साथ मन भी सिहर उठता है; किन्तु मन तो अभी भरा नहीं, और वह खिड़कियों को बन्द कर लेता है। वैयक्तिक पीड़ा तथा सामाजिक पीड़ा के द्वन्द्व से अलग वह अपनी ही कुटिया की दीवारों को अपना संसार मान कर अपने-आप में लीन रहने का प्रयत्न करता है ।

इस नूतन उपभोग प्रक्रिया में उसे सारी सृष्टि वासनामयी दीखती है; प्रकृति का प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक परिवर्तन उसके लिए उद्दीपन का कार्य करते हैं। वह अपनी ही सीमाओं में मुक्त बन्दी-सा सुखोपभोग में रत हो जाता है। अपने ही मनोभावों की प्रतिमूर्तियाँ उसे प्रकृति के जड़-चेतन में भी हर कहीं दृष्टि आती हैं :—

आज कितनी वासनामय यामिनी है ।
दिन गया तो ले गया बातें पुरानी,
याद मुझको अब नहीं रातें पुरानी,
आज ही पहली निशा मनभावनी है ।

घूँट मधु का है, नहीं झोंका पवन का,
कुछ नहीं मन को पता है आज तन का,
रात मेरे स्वप्न की अनुगामिनी है ।

दुग्ध-उज्ज्वल मोतियों से युक्त चादर
जो बिछी नभ के पलंग पर आज उस पर
चाँद से लिपटी लजाती चाँदनी है ।
आज कितनी वासनामय यामिनी है ।

—मिलन-यामिनी

जीवन की इस सुखद रेखा तक पहुँचते-पहुँचते उसे पुनः किसी परोक्ष सत्ता का ध्यान आने लगता है। सुख बिखराव भी तो माँगता है और युवक पुनः सोचने को बाध्य होता है कि मानवीय कर्मों के पीछे कोई अदृष्ट प्रेरणा कार्य करती रहती है। मानव तो मात्र साधन है। किन्तु तब भी वह उस चेतना से स्वयं को अभिभूत नहीं होने देता। अभी तो उसे आकाश की मांसल भुजाओं में पड़ी रजनी की मधु-देह दीख रही है और नीचे प्रिया के सामीप्य का सुख उसे और किसी के प्रति कुछ भी सोचने की फुर्सत कहाँ देता है? अभी तो सृष्टि मात्र प्यार है, प्यार से निर्मित, प्यार पर आधारित और प्यार से निदेशित :—

इस समय हिलती नहीं है एक डाली
इस समय हिलता नहीं है एक पत्ता,
यदि प्रणय जागा न होता इस निशा में
सुप्त होती विश्व की सम्पूर्ण सत्ता।

हम किसी के हाथ में साधन बने हैं,
सृष्टि की कुछ माँग पूरी हो रही है,
हम नहीं अपराध कोई कर रहे हैं
मत लजाओ और देखो उस तरफ भी—

प्राण, रजनी भिच गई नभ के भुजों में,
थम गया है शीश पर निरुपम रुपहला चाँद,
मेरा प्यार बारम्बार लो तुम।

—मिलन-यामिनी

जैसे दुःख की अति से मन ऊब जाता है वैसे ही सुख की अति भी ऊब का कारण बनने लगती है। व्यक्ति के अपने सुख-दुःख ही तो संसार में सब कुछ नहीं, समाज है, देश है, सृष्टि है, बहुत कुछ ऐसा है जो व्यक्ति-मन को आकर्षित करता है। और अब हम उसी नवयुवक को वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर समाज के बीच देखते हैं। कभी उसी ने तो कहा था :—

कल सुधारूँगा हुई संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल
आज तो कह दो कि मेरा बन्द शयनागार।
सुमुखि! ये अभिसार के पल चल करें अभिसार।

—मिलन-यामिनी

परन्तु अब तो अभिसार में भी मन नहीं रमता। स्वर में कोई अंतर तो नहीं आया पर शरीर पहले-से कुछ क्षीण लगता है। मुख पर संतोष की रेखाएँ भी स्पष्ट हैं, लेकिन अब बाहरी दर्द उसका अपना बनता जाता है। उसकी अभिसार-अवधि में देश में, दुनिया में क्या-क्या नहीं घटित हुआ है। कभी-कभी तो उसने भी घटनाओं के साथ अपने मन-मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। परन्तु अब तो जैसे उसके लिए अपना कहा जाने वाला कोई दर्द ही नहीं, अब तो दुनिया का दर्द ही उसका अपना हो गया है। यहाँ आते-आते युवक 'मैं' से 'हम' हो गया है, ऐसा लगता है।

चिर यौवन के करीब पच्चीस वर्षों तक सुख-दुःख की वैयक्तिक सामाजिक भाव-भूमियों में विचरण करने वाला अब एकदम-अनायास नहीं—रंगमंच पर ऐसी वेश-भूषा में दीखता है कि दर्शक आश्चर्यचकित हो उठते हैं। वहीं कुछेक ऐसे पारखी भी हैं जिन्हें उक्त अभिनेता का यह कार्य न तो आश्चर्यजनक लगता है और न अस्वाभाविक। उन्हें तो उसका वह 'कल' याद आ जाता है जब उसने संसार की भूलों को सुधारने और अन्याय के विरोध में भुजा उठाने का आश्वासन दिया था।

और चाहे क्षेत्र भले परिवर्तित हो गया हो किन्तु सत्य और न्याय के लिए, राष्ट्र और समाज के लिए वह फिर उसी सामर्थ्य और आत्मविश्वास से आगे बढ़ता दीखता है।

इसी बीच देश को स्वतंत्रता मिल जाती है। इसी बीच राष्ट्रपिता की हत्या होती है। इसी बीच देश में नैतिकता का स्तर नित्यप्रति गिरता हुआ दीखता है। इसी बीच राष्ट्र में केवल लूट, चोरी, स्वार्थ और भ्रष्टाचार का बोलबाला बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। युवक; वह युवक जिसने कभी भी सत्य के प्रकाशन में किसी बाधा की, सम्भावित भय की चिन्ता नहीं की, फिर समाज और राष्ट्र को उसकी वास्तविकता का सही परिचय देने का प्रयत्न करता है। एक ओर शासन की योजनाएँ, शक्तिशाली राजनीतिक पार्टी के आश्वासन और दूसरी ओर दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई गरीबी, भुखमरी, अनाचार और अत्याचार।

यह वही युवक है जिसने गांधी के सत्याग्रह आन्दोलनों को देखा था और तब उसे भी ऐसा अनुभव हुआ था कि देश की स्वाधीनता के लिए निःस्वार्थ भाव से कर्म करते जाना ही, सच्ची देश-भक्ति है। इसी ने गांधी की हत्या भी देखी थी और वही अब राष्ट्रपिता के नाम का दुरुपयोग भी देख रहा है। उसे कितना कटु अनुभव होता है :—

गांधी : अन्याय-अत्याचार का दासत्व सहती
मूर्छिता-मृत जाति की
जड़ शून्यता में
कड़कड़ाती बिजलियों की
प्रबल आँधी :
ज्योति-जीवन-जागरण घन का
तुमुल उल्लास।

गांधी : बुत पत्थरों का, मूक,
मिट्टी का खिलौना,
रंग-बिरंगा चित्र
छुट्टी का दिवस
देशान्तरों में पुस्तकालय को
समर्पित किए जाने के लिए
सरकार द्वारा,
आर्ट पेपर पर प्रकाशित,
राष्ट्र का इतिहास

—त्रिभंगिमा

राष्ट्रपिता की यह दुर्दशा ? एक ओर सरकारी प्रचार-यंत्रों का अनवरत उद्घोष, राष्ट्रीय चेतना-प्रसार का निरन्तर प्रयास और दूसरी ओर देश की वास्तविक स्थिति :

आज चार हजार, साढ़े तीन सौ से तीस ऊपर
दिवस बीते रेंगते
संदेश पर गणतंत्र दिन का
बीस मील नहीं गया है।

इसी स्थिति को देखकर तो वह उदास हो उठता है। जिस राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए हजारों शहीद हुए; उस राष्ट्र की यह दशा ? और फिर तो युवक की; सत्य, पर विचारोत्तेजक वाणी पुनः वातावरण में गूंजने लगती है :—

अपने में ही सिकुड़-सिमट कर
जी लेने का बीता अवसर,
जब अपना सुख-दुख था अपना ही उच्छाह-उच्छ्वास।

अकारण ही मैं नहीं उदास ।
अनदेखा, अनसुना किए सब,
कोई नेता संत नहीं अब,
दुर्वासा के स्वर में गरजे, 'अरे ! ठहर बदमाश !'
अकारण ही मैं नहीं उदास ।

—त्रिभंगिमा

इस प्रकार भौतिक जीवन और जगत के सभी सम्भव सुखों-दुःखों का मुक्त उपभोग करते हुए भी युवक को अचानक हम वृद्ध-सा, ज्ञानी-सा, विरागी-सा देखने लगते हैं। यह क्या ? क्या बारूद का विस्फोटक तत्त्व समाप्त हो गया ? क्या इन्द्रधनुषी रंगों में कोई आकर्षण न रहा ? एक दिन जिन भौतिक उपलब्धियों के लिए इतनी रेल-पेल थी, इतनी कोशिशें थीं, क्या उनमें अब कोई आकर्षण शेष नहीं ?

युवक को अब पूरी तरह विश्वास हो गया है कि सारस्वत प्रदेश का सारा मोहक वातावरण छलना मात्र है। संसार में कुछ भी तो चिरस्थायी नहीं। फिर इस भौतिकता के माया-जाल से जितना शीघ्र हो सके निकलने में ही कुशल है। व्यक्ति तो यहाँ मात्र साधन है, कार्य कराने और प्रेरित करने वाला तो कोई और है। उसी परोक्ष सत्ता के इंगित पर तो सृष्टि चल रही है। यहाँ न तो कोई सफल है और न तो कोई असफल। सफलता-असफलता का निर्णय ही कहाँ सरल है ? ऐसी स्थिति में जितना शीघ्र उस परमात्मा का स्मरण आ जाए, जीव चेत जाए, उतना ही कुशल।

काम जो तुमने कराया, कर गया,
जो कुछ कहाया कह गया।
मैं कहूँ कैसे कि जिसके
वास्ते जो भूमिका तुमने बनाई,
वह ग़लत थी, कब किसी की
छिप सकी कुछ भी, कहीं तुमसे छिपाई,
जब कहा तुमने कि अभिनय में—
बड़ा वह, जो कि अपनी भूमिका से
स्वर्ग छू ले, बँध गई आशा सभी की,
दंभ सब का बह गया।

—त्रिभंगिमा

इसी दंभ का बह जाना तो सत्य को पा जाना है। सत्य के अनुभव के पश्चात् दंभ कहाँ? और तभी मानव को अपने पिछले जीवन पर पश्चात्ताप का होना भी अस्वाभाविक नहीं। तब वह बार-बार यही तो सोचता है, काश, पहले ही यह प्राप्ति हो गई होती।

श्रम कर ऊबा,
श्रम-कण डूबा,
सागर को खेना था मुझको; रहा शिखर को खेता।
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।
थी मति मारी,
था भ्रम भारी,
ऊपर अम्बर गर्दीला था, नीचे भँवर-लपेटा।
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।
मत पछता रे,
खेता जा रे,
अंतिम क्षण में चेत जाय जो वह भी सत्वर चेता।
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।

—चार खेमें, चौंसठ खूँटे

जिसे आत्मज्ञान हो गया, उसे क्या अपना, क्या पराया? अब तो उसके लिए सब कुछ प्रभु ही है। 'कामायनी' का चिर तृषित मनु भी तो अंत में इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए कैलास पर्वत की दिशा में चल देता है। युवक अब तक युवक जैसा दीखता रहा है पर अब वह उस दार्शनिक-सा है जो असमय ही वृद्ध हो जाता है। यौवन तो मन:स्थितियों का नाम है, यौवन तो सतत संघर्ष का नाम है, यौवन तो चिन्गारी का दूसरा नाम है जो ताप ही में जन्मती और ताप ही में सुलगती है। पर अग्नि का शमन भी तो होता है? और निर्धूम ज्वाला की अन्तिम परिणति-सा मन ही तो जीवन के सत्य का उद्घाटन कर सकता है? सम्पूर्ण जीवन सुख से जीने के निमित्त संघर्ष करता हुआ मनु मुक्त स्वरों में गाता हुआ तटस्थ भाव से चला जा रहा है :—

प्रभु-मंदिर यह देह, री!
क्षिति की क्षमता,
जल की समता,
पावक-दीपक जाग्रत-ज्योतित निशि-दिन प्रभु का नेह, री!

प्रभु-मंदिर यह देह, री !

गगन असीमित,

पवन अलक्षित,

प्रभु-करुणा से पल-पल रक्षित यह पँचमहला गेह, री !

प्रभु-मन्दिर यह देह, री !

अतिथि पधारो,

भाग्य संवारो,

क्षण भर को कंचन छवि पाए चरण-बिछी यह खेह, री !

प्रभु-मन्दिर यह देह, री !

* *

काव्य-परिचय



बनी रहे यह मधुशाला | चार

'बच्चन' हिन्दी के एकमात्र कवि हैं जिनकी तुलना उन्हीं से की जा सकती है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में भी यद्यपि वे 'छायावाद' के बहुत निकट हैं, चाहे भाव, चाहे भाषा में, फिर भी उनमें वहाँ भी कुछ ऐसा अवश्य है जो छायावादी कवियों के गोल से उन्हें निकाल कर थोड़ा अलग खड़ा कर देता है, और यही उनके व्यक्ति तथा कवि दोनों की विशेषता है। प्रत्येक कवि अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों से उत्तराधिकार में बहुत कुछ लेता है, साथ ही वह यदि सशक्त है तो काव्य की प्रचलित धारा को मनोनुकूल दिशा में मोड़ने का प्रयत्न कर स्वयं को उस स्थान पर स्थित कर देता है जिसे देख कर साहित्य का इतिहासकार युग-विशेष की प्रवृत्तियों और प्रयोगों से अवगत हो जाता है। 'बच्चन' छायावादोत्तर हिन्दी कविता के ऐसे ही मोड़ हैं।

सन् १९२९ ईस्वी में २२ वर्ष की अवस्था में लिखित उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'तेरा हार' ने यद्यपि न तो 'बच्चन' के कवि को ही विशिष्टता दी और न उनके व्यक्ति को ही, लेकिन फिर भी 'तेरा हार' में कुछेक पंक्तियाँ ऐसी भी हैं, जो जैसे कवि के भावी जीवन-दर्शन की भूमिका हों। इस काल तक अभी 'बच्चन' केवल कवि हैं, प्रकृतिजन्य। क्योंकि उनमें केवल भावुकता और मानवोचित संवेदना ही दीखती है।

और फिर तो 'बच्चन' का एक ऐसा रूप हिन्दी काव्य-मंचपर दीखा जिसे लेकर उन्हें विविध प्रकार से प्रशंसा और अप्रतिष्ठा का पात्र बनना पड़ा। लेकिन 'बच्चन' को अपनी शक्ति का पता था और शायद यही आत्मशक्ति थी, जिसने हिन्दी को एक ऐसा कवि दिया जो अपनी तरह का स्वयं है।

* 'बच्चन' आत्मनिष्ठ हैं।
* 'बच्चन' निरे वैयक्तिक कवि हैं।
* 'बच्चन' यौवन की अतृप्ति और तज्जनित वेदना के गायक हैं।
* 'बच्चन' अध्यात्म-विरोधी हैं।
* और 'बच्चन' नास्तिक तथा भौतिक भोगवाद के समर्थक हैं।

ये और ऐसे ही अनेक विशेषण 'बच्चन' के कवि और कविता के नाम पर दे डाले गये। यद्यपि 'बच्चन' का स्वर ऐसा सार्वजनीन था जिसने उन्हें पाठकों और श्रोताओं की इतनी संख्या दी जिससे किसी भी समकालीन बड़े कवि को ईर्ष्या हो सकती थी और हुई भी। फिर भी इन फतवों ने कवि के समझे जाने और उसके प्रसार-प्रचार में बहुत अंशों तक बाधाएँ भी उपस्थित कीं।

इसके कई कारण थे—

* 'बच्चन' ने छायावादी अन्तर्मुखी काव्य-साधना से, जो वास्तविक जीवन पर अति कल्पना का सतरंगी आवरण डाल रही थी, विद्रोह कर कविता को सामान्य जीवन के धरातल पर ला दिया।

* 'बच्चन' ने न अपने पूर्ववर्त्तियों की मान्यताएँ लीं और न उन समकालीनों का ही साथ दिया, जो मार्क्स के भौतिक-आर्थिक विषमता के राग अलाप रहे थे।

* 'बच्चन' ने नैतिकता की आदर्शवादी सीमाएँ तोड़ दीं।

* 'बच्चन' ने ईश्वर, मठ, मस्जिद और गिरजाघर सभी की निस्सारता का समर्थन किया।

* 'बच्चन' ने जीवन और जीवन की लौकिक स्थितियों से अलग न किसी अन्य सत्ता का अस्तित्व स्वीकारा और न युगों से आती आध्यात्मिक परम्परा को ही महत्व दिया।

* 'बच्चन' ने अवसाद में डूबे अपने युवक कवि को एक ऐसा पथ देना चाहा—जिसके पीछे भावना सामाजिक ही थी—कि चाहे क्षण भर को ही सही; अपनी पीड़ा पर विजय पायी जाय।

* और 'बच्चन' ने जिस भौतिक भोगवाद का स्वर छेड़ा वह चार्वाक के भारतीय दर्शन से अधिक खैयाम के निकट था।

'बच्चन' के प्रारंभिक काव्य-संग्रह 'तेरा हार' से भी स्पष्ट हो जाता है कि कुछ अंशों तक 'छायावाद' के प्रभाव से रँगे होने पर भी जैसे वे उस रंग या प्रभाव से निकलने के प्रयत्न में हैं।

अहे, मैंने कलियों के साथ
जब मेरा चंचल बचपन था
महा निर्दयी मेरा मन था

* *

अहे, वह मेरे प्रति उपकार

—'तेरा हार'

ये पंक्तियाँ जहाँ कविवर पन्त की 'वीणा' की भाषा और सम्बोधन के 'अहे' की स्मृति दिलाती हैं, वहीं—

सुख तो थोड़े से पाते
दुख सबके ऊपर आता
सुख से वंचित बहुतेरे
बच कौन दुखों से पाता
हर कलिका की किस्मत में
जग-जाहिर, व्यर्थ बताना
लिखना न लिखा हो लेकिन
है लिखा हुआ मुर्झाना।

—'तेरा हार'

ऐसा भान होने लगता है कि 'बच्चन' का कवि अपने वैयक्तिक अवसादों को मूल प्रकृति के विभिन्न उपादानों के जीवन-इतिहास में ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है। और तभी देश की आर्थिक, सामाजिक स्थिति का बोध कवि को विचलित कर देता है। ऋषियों और इतिहास के स्वर्ण युगों के गौरवमय नाम से विभूषित देश अपनी पराधीनता में त्रस्त है, न कहीं मार्ग दीखता है, न प्रकाश की एक किरण!

"१९३० के सत्याग्रह आन्दोलन में मैंने युनिवर्सिटी छोड़ दी और उसके बाद मेरे जीवन में जो भीषण तूफान आया और मेरे विचारों भावनाओं में जो प्रबल उथल-पुथल मची उसने मुझे ठीक उस मन:स्थिति में रख दिया जिसमें 'रुबाइयात उमर खैयाम' प्राणों की प्रतिध्वनि हो गयी। एक-एक रुबाई ऐसी मालूम होने लगी जैसे मेरे लिए ही लिखी गयी हो। (खैयाम की मधुशाला तृ० सं०, पृ० ११) और खैयाम की मन:स्थिति का परिचय बच्चन की एक पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है।—"सभ्य संसारव्यापी अंधकार, अविश्वास, अनास्था, अतृप्ति, अशांति, अस्थिरता और अनिश्चय की निश्चित आवाज है रुबाइयात उमर खैयाम।" (वहीं, पृष्ठ ३४):

यह समय 'बच्चन' के व्यक्ति एवं देश की सामाजिक विकास-भावना, राष्ट्रीय चेतना सभी के लिए दुखपूर्ण ही था। एक ओर 'बच्चन' ने जिस सत्याग्रह आंदोलन के लिए विश्वविद्यालय की शिक्षा से मुँह मोड़ लिया था वह आंदोलन दबाया जा चुका था। अब न शिक्षा का क्रम ही जुटने की उम्मीद थी और न वे आर्थिक दृष्टि से ही संतुष्ट थे। एक मध्यवर्ग के युवक की सारी आकांक्षाएं उनमें

भी थीं जिनकी पूर्णता का कोई पथ नहीं था, थी तो केवल पथहीनता से उत्पन्न पीड़ा। दूसरी ओर देश का युवक समुदाय भी किंकर्तव्यविमूढ़ की ही स्थिति में था। ऐसी ही अवधि में खैयाम ने बच्चन को जैसे एक ऐसी दिशा दी जिसकी ओर बढ़नेवालों के कदम भले लड़खड़ा जाँय पर उन्हें न तो अपने पावों का ध्यान होता है, न विश्व की किसी उपेक्षा का, न नियति के कटु विधान का।

एक ओर यौवन के इंद्रधनुषी स्वप्न और स्वप्नों पर आशाओं के वायवीय वांछित चित्रों की योजना और दूसरी ओर यथार्थ की कठोर ऊबड़-खाबड़ भूमि। 'बच्चन' ने तब 'गम गलत' करने का ही उपाय निकाला और 'मधुशाला' खोल ली।

कर्ज की पीते थे मय
श्रौ समझते थे कि हाँ
रंग लायेगी हमारी फाकामस्ती एक दिन

—गालिब

यही फाकामस्ती उनके लिए भी प्रेय बन गयी। फिर भी 'बच्चन' के काव्य का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि चाहे भले ही उनकी हाला कितनी ही ताकतवर हो जो मस्त बनाकर ही छोड़े, लेकिन उनकी मस्ती बाहर चाहे जैसी भी दिखे, 'बच्चन' भीतर से उतने मस्त नहीं थे। उनके मधुशाला में बैठे रहते हुए भी, प्यालों पर प्याले ढालते रहते हुए भी कुछ ऐसा था जो उनकी बौद्धिक चेतना को अप्रभावित रखे रहा। शायद उनका यह वैयक्तिक अवसाद हाला की शक्ति से अधिक तीव्रतर था। कवि के इस स्वरूप का स्पष्ट बोध उसकी 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' कालीन अभिव्यक्ति से हो जाता है, जिनका आधार दूसरा है। पर 'मधुशाला' कालीन रचनाओं और बच्चन के दैनिक जीवन को निकट से देखने का प्रयास करने पर उपर्युक्त तथ्य स्वत: साफ हो जाता है—

* * *

उमर खैयाम के मदिरालय में बैठकर बच्चन ने अपनी प्रेयसी को सम्बोधित कर कहा था।

हाय, प्रेयसि! मिल हम-तुम साथ
नियति के, रच कोई षड्यंत्र
पकड़ सकते यदि यह सम्पूर्ण
जगत का दुख संकटमय जंत्र
न क्या हम करके चकनाचूर

मिटाते इसका स्वत्व समूल
बनाते एक नया संसार
हृदय के स्वप्नों के अनुकूल
—खैयाम की मधुशाला

और इसी हृदय के स्वप्नानुकूल संसार-निर्माण में 'बच्चन' ने १९३३ से १९३६ तक तीन वर्ष व्यतीत कर दिए। परन्तु ये स्वप्न और वह स्वप्नानुकूल विश्व जैसे समकालीन यौवन की वांछा थी। 'बच्चन' के उस स्वर का स्वागत यौवन ने किया, कवि की समकालीन युवक पीढ़ी ने किया।

'बच्चन' ने खैयाम से जो कुछ भी लिया था उसे अनेक रूपों में व्यक्त किया। मधुशाला के विविध प्रतीकों, हाला, प्याला और साकी के विभिन्न परिवेशों का ऐसा चित्र उपस्थित किया जो सुन्दर ही नहीं, सहज भी था और सहज ही नहीं, चमत्कार-युक्त भी था।

परन्तु यह भावभूमि अभी तक हिन्दी जनता के लिए अपरिचित थी। यह भाव-भूमि आदर्शोन्मुखी हिन्दी काव्य-समीक्षक के लिए नयी तो थी ही; उसे ऐसा भी लगा कि सम्भव है इससे काव्य और मानव दोनों का अंधकार हो और इसी आधार पर 'बच्चन' के कवि' को लांछना मिली। यहीं यह भी बता देना आवश्यक है कि 'बच्चन' के स्वर के साथ और भी ऐसे कई सशक्त स्वर थे जिनसे हवा गूँज रही थी, जिनसे प्रकृति और वातावरण में एक अनिवर्चनीय मानवता की सृष्टि हो रही थी। लेकिन मैं 'बच्चन' की आत्मशक्ति पर विशेष बल इसलिए भी देना चाहता हूँ कि उन्होंने मधुशाला का पथ मात्र खैयाम के अनुकरण के लिए नहीं पकड़ा था। उन्हें प्रारम्भ में ऐसा लगा कि खैयाम उन्हीं के लिए लिख रहा था, परन्तु बाद में उन्हें बोध हो गया था कि उनके भीतर बैठा कवि भी खैयाम ही है या उससे यदि कहीं अलग भी है तो भी उसे अपने स्वत्व का ध्यान है। यही कारण था कि 'बच्चन' का जब विरोध हुआ, जब मदिरा और यौवन की मांसल स्वच्छन्द भोग-भावना का विरोध हुआ तो 'बच्चन' के सहयोगियों ने अपनी-अपनी सारंगी रख दी; प्याले तोड़ डाले और मदिरालय से ऐसे निकल गये कि कोई देखता न हो। मगर 'बच्चन' के पावों के नीचे की जमीन अधिक ठोस थी, उन्होंने जब लांछित करने वालों के उत्तर में उनसे प्रश्न पूछने शुरू किए तो कोई उत्तर नहीं मिला।

जब कवि ने—

गिरती जाती है दिन प्रतिदिन
प्रणयिनि, प्राणों की हाला

भग्न हुआ जाता दिन प्रतिदिन
सुभगे, मेरा तन-प्याला,
रूठ रहा है मुझ से रूपसि,
दिन-दिन यौवन का साकी
सूख रहो है दिन-दिन सुन्दरि
मेरी जीवन-मधुशाला।

—मधुशाला

अपने युग में सबको अनुपम
ज्ञात हुई अपनी हाला,
अपने युग में सबको अद्भुत
ज्ञात हुआ अपना प्याला
फिर भी वृद्धों से जब पूछा
एक यही उत्तर पाया-
अब न रहे वे पीनेवाले
अब न रही वह मधुशाला

—मधुशाला

अपनी असमर्थता, नियति की कठोरता और जीवन की विभिन्न अवधि में मनुष्य की प्रकृति का वर्णन किया तो उसकी स्वाभाविकता से इन्कार चाहे भले ही किसी ने न किया हो, परन्तु फिर भी कवि के उद्देश्यपथ की निःसारता तो सिद्ध की ही गयी। लेकिन बच्चन ने अभी अपने को उस रूप में, समझा ही कहाँ था जिस रूप में उन्हे अनुभव करने को कहा जा रहा था। अभी तो कवि इसी से चिन्तित था—

इस पार प्रिये तुम हो मधु है
उस पार न जाने क्या होगा ?
यह चांद उदित होकर नभ में
कुछ ताप मिटाता जीवन का
लहरा-लहरा यह शाखाएँ
कुछ शोक भुला देतीं मन का,
कल मुर्झानेवाली कलियाँ
हँस कर कहती हैं मग्न रहो,
बुलबुल तरु की फुनगी पर से-

देश सुनाती यौवन का।
तुम देकर मदिरा के प्याले
मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का-
उपचार न जाने क्या होगा ?

और यदि स्वस्थ दृष्टि से देखा जाय तो कवि का यह संघर्ष उसका आत्मसंघर्ष था, जीवन-संघर्ष था। यह क्या विडम्बना, कि मन की कोई भी इच्छा न पूरी हो सके और न हम खुलकर उसे व्यक्त ही कर सकें? लेकिन 'बच्चन' ने चुनौती देते हुए कहा—

है आज भरा जीवन मुझमें
है आज भरी मेरी गागर।
सर में जीवन है, इससे ही
वह लहराता रहता प्रतिपल
सरिता में जीवन, इससे ही
वह गाती जाती है कल-कल
निर्झर में जीवन इससे ही
वह झर-झर झरता रहता है
जीवन ही देता रहता है
नद को द्रुतगति, नद को हलचल
लहरें उठतीं, लहरें गिरतीं,
लहरें बढ़तीं, लहरें हटतीं,
जीवन से चंचल हैं लहरें
जीवन से अस्थिर है सागर

—मधुबाला

और इस जीवन से; जीवन की नैसर्गिक भूख से उदासीन होना कवि को जैसे प्राणहीनता-सा लगा। इसीलिए जब उस पर आरोप लगाये गये कि उसकी अभिव्यक्ति वासनामयी है, वह यौवन के मांसल भोग का गान करता है, तो उसने आरोपों का उत्तर न देकर अपनी अभिलाषा ही व्यक्त की—

प्राण प्राणों से सकें मिल
किस तरह दीवार है तन

काल है घड़ियाँ न गिनता
बेड़ियों का शब्द झन-झन
वेद लोकाचार प्रहरी
ताकते हर चाल मेरी
बद्ध इस वातावरण में
क्या करे अभिलाष-यौवन
अल्पतम इच्छा यहाँ
मेरी बनी वन्दी पड़ी है,
विश्व क्रीड़ा-स्थल नहीं रे
विश्व कारागार मेरा।
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा।

—मधुकलश

क्योंकि उसे पता था वह जानता था कि उसकी अभिव्यक्ति मानव के यौवन की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, लेकिन वह औरों की भाँति अपने को धोखा कैसे दे—

क्या किया मैंने, नहीं जो
कर चुका संसार अब तक
वृद्ध जग को क्यों अखरती है
क्षणिक मेरी जवानी।
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता
शत्रु मेरा बन गया है
छल-रहित व्यवहार मेरा।

—मधुकलश

उसे तो ईमानदार असाधु कहलाना स्वीकार है पर वेईमान साधु नहीं। क्योंकि वह लहरों को उफनते देखकर उनमें एक बार कूदने की हौंस, उन्हें पार कर जाने की इच्छा को रोक नहीं सकता। वह यह भी जानता है कि इस कार्य में अनेक डूब भी गये हैं फिर भी उसे विश्वास है—

हो युवक डूबे भले ही
है कभी डूबा न यौवन

तीर पार कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण।

मधुशाला

यों बच्चन के मधुशाला कालीन काव्य के पर्यवेक्षण में हमें मानव की यौवनोचित इच्छाएँ मिलती हैं तथा मिलता है इच्छाओं की अपूर्णता पर मन का अवसाद। जीवन की जो भी अवधि मिली है उसका मुक्त उपभोग ही नियति के व्यंग्य का एकमात्र उत्तर है। बच्चन ने भी अपनी प्रारम्भिक उठान में इसी अध्यात्म-विरोधी भोगवाद की प्रतिस्थापना की।

चाहे हम इस मुक्त भोग की कितनी भी उपेक्षा क्यों न करें लेकिन कवि के एक काल विशेष की मानसिक और वैयक्तिक तथा राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए उसकी अभिव्यक्ति-कुशलता, मानव मन की स्वाभाविकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह सच है कि आगे चलकर 'बच्चन' को भी लगा कि उनकी पिछली आधारभूमि जिसे वे जीवनदर्शन मान बैठे थे एक स्थिति-सत्यता भर ही है। फिर भी हिन्दी कविता को मिली उनकी भाषा, गीति-विधा का उत्कृष्ट रूप और संगीतात्मकता, इन अवदानों को कौन अस्वीकार करेगा? और यथोचित भी यही है कि उनकी इन रचनाओं की समीक्षा उपर्युक्त आधार पर ही होनी चाहिए। ऐसा नहीं हुआ है और यह बच्चन के कवि की तो नहीं समीक्षक की ही सीमा सा-दृष्टि में दोष का हेतु है।

यहाँ तो डॉक्टर नगेन्द्र के ही विचार को उद्धृत कर देना यथेष्ट लगता है। वे बच्चन के काव्य की आलोचना की ओर संकेत कर लिखते हैं—'परन्तु वास्तव में इन आलोचनाओं में जीवन को बहुत सतह से देखा गया है और हल्की भावुकता के मापदण्ड से मापा गया है। इस प्रकार के आलोचक स्थूल आदर्शवाद के मोह में जीवन की अपराजेय शक्ति के महत्व को भूल जाते हैं। इस तरह का आदर्शवाद जीवन के एकांग को देख पाता है सर्वांग को नहीं।"—(आधुनिक हिन्दी कविता की मु० प्र० पृष्ठ ८६)

यदि दो वाक्यों में कहें तो मधुशाला पुरुषार्थ और यौवनोचित शक्ति की प्राणदायिक चेतना है। मधुशाला मानव मन की स्थिति विशेष की ओर इंगित करती है जब थकावट भी एक अनिवर्चनीय प्राणवत्ता से भर जाती है।

★★

है चिता की राख कर में

पाँच

जब बच्चन के कवि ने मधुशाला में बैठकर मधु का आह्वान किया था; तब वह अकेला नहीं था; अनेक स्वर सम्मिलित रूप से वातावरण में गूंज रहे थे—'बने रहो ऐ पीने वालो, बनी रहे यह मधुशाला—'। यद्यपि गाने वाले अनेक थे पर कवि का स्वर दूसरों से कुछ अलग और अधिक स्पष्ट था। वह अपनी इकाई के व्यक्तित्व की रक्षा में सजग तथा गम्भीर दीख रहा था। मधु का यह आह्वान माया ग़म ग़लत करने का ही साधन नहीं था वरन् परिस्थितियों से ऊपर उठकर, सारी संघर्ष-जनित पीड़ा को अंगीकार करते हुए वांछित दिशा-पथ पर बढ़ते चलने का कारण भी था। सम्भवतः इसीलिए अन्य मधु-प्रेमियों ने जब समाज के उलाहनों-उपहासों से भयभीत होकर अपने-अपने जाम तोड़ डाले, तब भी बच्चन के पाँव वहीं जमे रहे। बच्चन तो एक जीवन-दर्शन लेकर वहाँ आये थे, मात्र शोर-गुल से आकर्षित होकर नहीं। इसीलिए उन्होंने प्रत्येक आरोप का सोत्साह उत्तर दिया, अपनी मनः स्थितियों का स्वाभाविक उद्‌गार प्रकट किया ताकि कहीं से तो समवेदना और सद्‌भावना की किरण फूटे, ताकि कोई तो सही ढंग से चिन्तन के आधार पर यौवनोचित भावना का यथोचित मूल्यांकन करने को प्रस्तुत हो। सम्भवतः इसी उद्देश्य से कवि को बार-बार मानव-प्रकृति और इतिहास को दुहराना पड़ा, मान्यताओं, नियमों के प्रति युवकों के मनोभावों का विवेचन उपस्थित करना पड़ा।

अभी बच्चन का कवि दैहिक और भौतिक स्थितियों; उपेक्षाओं से ही जूझ रहा था कि अचानक उसे दैवी कोप का भी भाजन बनना पड़ा। अब तक का जीवन जिन सत्यों और स्वप्नों के आधार पर चल रहा था, उनकी जड़ें ही नहीं हिल गयीं बल्कि उनका स्वत्व ही समाप्त हो गया। सन् १९३० में विश्वविद्यालय से अलग होते ही जो संघर्ष बच्चन के जीवन में आया था उनकी चरम परिणति १९३६ ई० में प्रथम पत्नी श्यामा की मृत्यु में हुई। परिवार से मिलनेवाली की शक्ति और प्रेरणा से हीन होकर जैसे बच्चन का कवि पूरी तरह टूट गया। एक

ऐसी अनास्था तथा पीड़ा की तीव्र वेदना उसमें जागृत हुई जिसने बच्चन को दुख के ऐसे तट पर पहुँचा दिया जहाँ से न तो आशा की कोई किरण दिखलाई देती है और न तो विश्वास का कोई मार्ग।

अनास्था, अविश्वास और पीड़ा की सारी मनःस्थितियाँ 'निशा-निमंत्रण' एकांत संगीत' और 'आकुल अन्तर' में बड़ी स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। बाहरी उपेक्षाओं, उपहासों से जूझते हुए कवि को कभी अपनी शक्ति पर अविश्वास इसलिए नहीं हो पाया था कि भीतर से एक ऐसे संगीत की प्रेरणा-शक्ति बाँधे हुए थी जिसके रहते क्या दर्द और क्या दुनिया। अब तक तो ऐसी ही आत्मशक्ति का परिचय वह देता रहा है जो दूसरों के लिए अनुकरण का कारण भले न रहा हो ईर्ष्या का तो रहा ही है। ऐसी ही परिस्थिति में तो उसने कभी सागर की उत्ताल लहरों से जूझने के लिए नाविक से नाव लौटा ले जाने का अनुरोध किया था ताकि अपनी भुजाओं में निहित शक्ति का मूल्यांकन कर सके, ताकि मानवीय सामर्थ्य का परिचय प्राप्त कर सके—

नाव नाविक फेर ले जा
है नहीं कुछ काम इसका
आज लहरों से उलझने को
फड़कती हैं भुजाएँ

—मधु कलश

किन्तु जब दैव ने भी परिहास किया तो जैसे कवि को काठ सा मार गया। अब जाकर उसने अनुभव किया कि सत्य मिटा, सपना भी टूटा। सत्य के मिटते ही स्वप्न का उपवन ही पतझर में बदल नहीं गया वरन् जैसे सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति, यहाँ तक कि धर्म और ईश्वर के प्रति भी उसमें किसी प्रकार की कोई आस्था नहीं बची। अब तो दूसरों को हँसते, गाते, रोते, घृणा और प्यार करते हुये देखकर उसे अपना अस्तित्व, अपनी स्थिति-सीमा याद आने लगी और इसी मानवीय प्रवृत्ति के कारण उसने कभी रात के अंधकार को साथी मान लेने को उचित समझा तथा कभी अकेलेपन में ही अपने आप को भुला देने का प्रयत्न करने लगा। संध्या से प्रारम्भ होकर सुबह के आगमन तक का चित्रण करनेवाले 'निशा-निमंत्रण' के गीत कवि की ऐसी ही वेदना का परिचय देते हैं। जब वह पंछियों को अपने घोसलों की ओर उड़ते हुये देखता है तो यह सोचकर वह साँझ और भी भयानक, और भी अंधकारमयी हो उठती है कि इन पक्षियों की प्रतीक्षा में तो इनके बच्चे होंगे; मैं कहाँ जाऊँ? मेरी प्रतीक्षा करने वाला अब कहाँ रहा?

यही प्रश्न बार-बार कवि के पैरों को गतिहीन कर देता है; उसकी अन्तरलीन पीड़ा को और भी गहरा बनाने लगता है—

मुझसे मिलने को कौन विकल ?
मैं होऊँ किसके हित चंचल ?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को, भरता उरमें विह्वलता है।
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।

—निशा निमंत्रण

यही नहीं; जब वह प्रकृति के अन्य तत्वों को अपने-अपने वांछित क्रिया-कलापों में रत देखता है तब उसे अपने अभाग्य पर रोने के सिवा और कुछ भी दृष्टि नहीं आता। प्रकृति के अन्य जीवधारी तो अपने-अपने प्रणय-कार्यों में लगे हुये हैं। कहीं बुलबुल है तो कहीं मधुपायी भ्रमर; किन्तु मैं? और उसकी आँखें आसुओं से भर उठती हैं—

बुलबुलों ने पाटलों से,
षट्पदों ने शतदलों से,
कुछ कहा, यह देख मेरे गिर पड़े आँसू नयन से,

—निशा-निमंत्रण

'यही कुछ' तो कह पाने का एक प्रिय साधन उसके पास भी था; कोई ऐसा भी तो था जिसकी प्रतीक्षा का स्मरण कवि को घर की ओर उन्मुख कर देता था। अब तो यह साधन भी नहीं। ऐसे सुखद क्षणों का उपभोग उसने भी तो किया है जिसका मूल्यांकन संसार के लिए कल्पनातीत रहा है। ऐसे क्षण जहाँ केवल प्यार था, स्नेह और वांछित चुम्बन-व्यापार था; मुक्त और द्वन्द्व-हीन। और तब ऐसा लगता था कि जैसे सारी सृष्टि कवि के ही आलिङ्गन-पाश में बद्ध है—

अखिल विश्व था आलिंगन में;
था समस्त जीवन चुंबन में,
युग कर पाये माप न जिसकी मैंने ऐसा क्षण देखा है।

—निशा-निमन्त्रण

किन्तु आज तो उन बीते क्षणों की स्मृति भर शेष है; आज तो उन क्षणों की स्मृति का आवेग कवि-मन को वर्तमान की विभीषिका से और अधिक भयभीत, त्रस्त तथा दुखी बनाने का साधन-मात्र रह गया है। सुख के आलोड़ित सागर को पीड़ा के मरुस्थल में परिवर्तित देख; प्यार को घृणा में बदला हुआ पाकर

वह आखिर अपने आँसुओं को कैसे नियंत्रित करे; क्या यह मानवीय स्थिति नहीं है? किन्तु संसार परिहास से बाज कैसे आ सकता है? किसे किसकी मनःस्थिति के प्रति सच्ची सहानुभूति है? यहाँ तो सभी अपनी ही स्थिति, मनोभाव के अनुसार दूसरों को भी समझते हैं। इस स्वार्थान्ध विश्व को किसी प्रणयी के मन-मस्तिष्क का; किसी निराश और दुःखी दिल का सही अनुभव कैसे हो सकता है? अभी तो प्रथम परिणय की चिता-राख हाथ में ही है कि क्रूर संसार कवि से नयी दुनिया बसाने का अनुरोध करने लगता है। यह, ऐसा अनुरोध यदि उसे व्यंग्य और परिहास लगे तो इसमें आश्चर्य क्या? वैसे व्यावहारिकता यही है, संसार की प्रकृति-स्थिति भी यही है कि बीते को भुलाकर नये के प्रति आकर्षित हुआ जाय। पर सबके साथ ऐसा ही तो नहीं होता? सब का अन्तः एक ही जैसा तो नहीं होता?

बात पिछली भूल जाओ,
दूसरी नगरी बसाओ—
प्रेमियों के हित रही है, हाय, कितनी क्रूर दुनिया।

—निशा निमंत्रण

ऐसा क्रूर संसार जो प्रेमी-हृदय को समझने में असमर्थ है, वह भला उसकी भावना की कद्र कैसे करेगा। इसीलिये तो कवि की मनोदशा की उपेक्षा कर संसार उससे पुनर्विवाह का अनुरोध करता है; चिता की राख में सनी उँगलियों से सिन्दूर-दान के लिये परामर्श देता है—

वह समझ मुझको न पाती
और मेरा दिल दुखाती
है चिता की राख कर में, माँगती सिन्दूर दुनिया।

—निशा निमंत्रण

किन्तु विधि के परिहास के साथ, संसार और समाज की उपेक्षा जैसे कवि को और अधिक अन्तर्मुखी बना देती है। अब उसे संसार का जीवन निस्सार तथा अर्थहीन लगने लगता है। सत्य के मिट जाने और तत्सम्बन्धी स्वप्नों के टूट जाने पर आखिर अब बचा ही क्या है जिसे लेकर जिया जा सके। इसीलिये जहाँ उसे एकमात्र अपनी ही शक्ति पर भरोसा करना पड़ता है; वहीं वह दूसरों की संवेदना और सहानुभूति को भी लेने के पक्ष में नहीं रह जाता। क्यों किसी की सद्भावना स्वीकारी जाय? वह तो जहाँ बीते क्षणों की सुखद स्मृतियों को लेकर

मृत्यु का आलिंगन करना चाहता है—"आओ, सो जायें, मर जायें" वहीं दूसरी ओर यह भी गवारा नहीं करता कि कोई उसके शव तक को कंधा देने का कष्ट उठाये। उसे किसी की सहानुभूति, किसी प्रकार की भी सहानुभूति की आवश्यकता नहीं। यद्यपि उसे अपना जीवन मृत्यु से कम दुःखदाई नहीं जान पड़ता। उसे तो ऐसा बोध होता है जैसे वह अपने ही शव को अपने कंधे पर ढोये चल रहा हो। वह अपने मृत शरीर को चिता तक पहुँचा देने का पक्षपाती है ताकि उसकी मृत्यु के पश्चात् भी कोई उसके प्रति कोई दया प्रकट करने का अवसर न प्राप्त कर सके। अपने आपको जीवित मृतक के सदृश मानते हुए भी वह यही अभिलाषा प्रकट करना चाहता है—

जीवित भी तू आज मरा-सा
पर मेरी तो यह अभिलाषा
चिता-निकट भी पहुँच सकूँ मैं अपने पैरों-पैरों चलकर।

—निशा निमंत्रण

किन्तु अभिलाषाएँ कब साकार हो पाती हैं। भाग्य द्वारा प्रताड़ित, संसार और समाज द्वारा तिरस्कृत कवि को भी तो किसी ऐसे की तलाश है जो संसार के ईर्ष्या-द्वेष, मोह-स्वार्थ, लोभ से अलग हो; जिससे दो बातें कर वह अपने आप को हल्का महसूस कर सके। इसीलिये निमंत्रण की निशा में कवि एक काल्पनिक साथी को ढूँढ़ लेता है, जिसके साथ, हँसने-रोने, गाने और सोने में उसे कोई संकोच न रहे। दुःख का पहाड़ बनी हुई रात में; जब कि सारा विश्व सुख की नींद में स्वप्न-लोक का आनन्द लेने में व्यस्त है, कवि उस साथी को भी जगाये रखना चाहता है जिससे बात करते हुए वह पीड़ा की घड़ियों को काट सके। सम्भवत: इसीलिये कभी वह उससे 'साथी, सो न, कर कुछ बात', का अनुरोध करता है और कभी उसी के साथ जीवन का अंत कर देना चाहता है।

रात चाहे कितनी ही पीड़ादायिनी क्यों न हो संसार की दृष्टियों से तो वह ओझल है। कोई उसका उपहास करनेवाला तो नहीं; कोई उससे व्यंग्य करने के लिये जागृत तो नहीं। पर यह रात भी कहाँ साथ दे सकी? जब प्रकृति भी साथ नहीं निभा सकती तो कल्पना का साथी ही क्यों साथ रहे? यही सोचकर, वह उस साथी से भी विदा ले लेता है। कवि उस कल्पना-साथी के प्रति भी कम आभारी नहीं है, क्योंकि एकाकीपन में उसी ने तो अवलम्ब दिया था। पर दुनिया में और भी दुःखी हैं, औरों को भी उसकी आवश्यकता हो सकती है। इसीलिये वह उसे विदा करते हुए कहता है—

जब नयनों में सूनापन था,
जर्जर तन था, जर्जर मन था,
तब तुम ही अवलंब हुए थे मेरे एकाकी जीवन के।

× ×

जाओ जग में भुज फैलाये
जिसमें सारा विश्व समाये
साथी बनो जगत में जाकर, मुझसे अगणित दुखिया जन के।
जाओ कल्पित साथी मन के।

—निशा निमंत्रण

अब तक के दुःख और पीड़ा के क्षणों को कवि एक कल्पित साथी के सहारे जीता रहा है। अब तो उस साथी को भी विदा देकर वह एकांत एकाकी रह जाता है। आज भी अतीत की स्मृतियाँ हैं, बीते सुखद दिनों की याद है, पर वर्तमान की वेदना के अंधकार पर विजय प्राप्त कर पाने का कोई साधन तो नहीं। इसीलिये जब अपनापन सुना पाने का साधन शेष नहीं, अपने सुख-दुःख का सह-भोक्ता नहीं तो फिर यह जीवन ही कैसे बचा रह गया? आज न तो वह राग है और न उसका वह सुनने वाला, फिर जीवन...

तू न सुनने को रही जब,
राग भी जब वह गया दब,
तब न मेरी जिन्दगी के दिन गये क्यों बीत?

—एकांत संगीत

न तो जिन्दगी पर अधिकार है कि वह मनुष्य के अनुरूप चले, न तो दुःखों को दूर कर पाने का ही कोई आधार! एक ओर कवि का व्यक्तिगत जीवन जो मात्र निराशाओं और पीड़ा का केन्द्र बना है और दूसरी ओर संसार, प्रकृति और समाज की दूसरी इकाइयों की अपनी जिन्दगी। सबके यहाँ परिवर्तन, सबके यहाँ दुःख-सुख का क्रम। प्रकृति भी तो पतझर के पश्चात् वसन्त के साथ नये पल्लवों, पुष्पों से सुसज्जित हो उठी है। मगर कवि का विश्वास; उसका जीवन-उपवन तो अब भी ठूँठ और पत्र-पुष्प-विहीन ही है। अब उसके बीते दिनों का जीवन फिर सकने वाला कोई नहीं—

मधुऋतु समीरण चल पड़ा,
वन ले नये पल्लव खड़ा

ऐसा फिरा जो ला सके मेरे गये विश्वास को—
कोई नहीं, कोई नहीं।

—एकांत संगीत

एक ओर दुःखों से उबर कर सुख का उपभोग कर रही प्रकृति और दूसरी ओर आस-पास के संगी-साथी जो भौतिक-दृष्टि से सुखी एवम् सन्तुष्ट हैं। यद्यपि कवि को ऐसों के भाग्य से ईर्ष्या नहीं, उनसे कोई भी शिकायत नहीं, पर क्या वह उनके जीवन के साथ अपनी तुलना के मनोभाव को भी मिटा दे? और यह मनोवृत्ति क्या प्राकृतिक नहीं है? यौवन तो बीत ही रहा है, पर उपलब्धि के नाम पर निराशा और पीड़ा लेकर क्या कवि अपना आत्म-विवेचन भी न करे? और इस विवेचन-विश्लेषण में भी आखिर क्या मिलता है?

वे सब साथी ही हैं मेरे
जिनको गृह-गृहिणी-शिशु घेरें
जिनके उर में है शान्ति बसी, जिनका मुख है सुख का दर्पण।
कब उनका भाग्य सिहाता हूँ
उनके सुख में सुख पाता हूँ
पर कभी-कभी उनसे अपनी तुलना कर उठता मेरा मन।
बीता इकतीस बरस जीवन।

—एकांत संगीत

मिलता तो है प्रतिक्षण बीत रहे जीवन में निरन्तर बढ़ती हुई पीड़ा और उपहास, वेदना और व्यंग्य। और जैसे ये सारी स्थितियाँ कवि को एक बार पुनः मधुकलश-कालीन आत्मशक्ति से भर देती हैं। चाहे वह भगवान् के प्रति अविश्वासी भले हो उठे किन्तु अपने स्वाभिमान और अपनी सामर्थ्य के प्रति पुनः आस्थावान हो जाता है। संसार की उपेक्षा और विधि का व्यंग्य अब उसके लिये अर्थहीन से लगने लगते हैं—संसार को तो उसने अनेक बार अपनी स्थितियों से परिचित करा दिया है पर अदृश्य से लड़ पाने की उसकी वांछा कभी भी पूरी नहीं हो पायी है। यही वह स्थिति है जब मनुष्य सारी मुसीबतों, विपत्तियों के बीच भी यह सोचने को बाध्य होता है कि बस यही तो—देख लेंगे। और बच्चन का कवि भी इसी आत्मविश्वास के सहारे घोषित करता है—

क्षत शीश मगर नत शीश नहीं।
बनकर अदृश्य मेरा दुश्मन

करता है मुझ पर वार सघन
लड़ लेने की मेरी हवसें मेरे उर के ही बीच रहीं।

—एकांत संगीत

और यह वही अदृश्य तो है, जिसकी काल्पनिक मूर्ति के सम्मुख हाथ बाँध कर झुका हुआ मानव, बँधे हुए पशु के सदृश दया की भीख माँगा करता है। इस अदृश्य की विशेषताओं के प्रचारक धर्म और धर्म के साधन पूजा-स्थल; अब कवि को मनुष्य की पराजय के चिह्न लगने लगते हैं। वह तो प्रत्येक परिस्थिति का सामर्थ्य के साथ सामना करने का विश्वासी है—यह पूजा और प्रार्थना क्यों—

युद्ध-क्षेत्र में दिखला भुज-बल
रह कर अविजित, अविचल, प्रतिपल
मनुज पराजय के स्मारक हैं, मठ, मस्जिद, गिरजाघर।
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।

—एकांत संगीत

अब तो वह जहर पीकर भी गाने की हौंस रखता है। गरल पान करने का परिणाम तो सबके लिए एक ही जैसा होगा, फिर औरों की तुलना में उसकी अपनी विशेषता क्या ? इसी लिए वह दूसरों की तरह मुर्दा बने रहने को धिक्कारते हुए उठ कर गाने की शक्ति का प्रकाशन करता है—

गरल पान करके तू बैठा
फेर पुतलियाँ, कर-पग ऐंठा
यह कोई कर सकता, मुर्दे ! तुझको अब उठ गाना होगा।

—एकांत संगीत

दुःख की भयावनी, अंधकारमयी रात्रि में कभी उसने दुःख बटाने के लिए एक काल्पनिक साथी का सहारा लिया था जिसे दूसरे दुखियों का कष्ट दूर करने के लिए विदा कर दिया। फिर तो नितान्त अकेला कवि का मन सारी प्रचलित मान्यताओं से विद्रोह कर बैठा। विद्रोह की इसी चेतना ने उसे पुनः एक ऐसी आत्म-शक्ति और धीरता प्रदान की जिसके चलते संसार की पीड़ा उसे अपने पराक्रम के सम्मुख निर्जीव और कमजोर लगने लगी। निशा निमंत्रण से एकान्त-संगीत तक की कवि की यह मनःस्थिति अपनी आकुलता को भले ही नियंत्रित न कर पायी हो; पर अब उसे अनुभव होने लगा कि दुःख का अस्तित्व इससे बढ़कर कुछ और नहीं है। जिस एकाकीपन ने उसमें एक दुर्दमनीय आत्मशक्ति जागृत की थी, वह अकेला-

पन भी तो अधूरा ही रहा। चाहे वह भले ही अपने आप में सिकुड़-सिमट कर रहे; पर उसकी साँसें, उसके स्वर जगत के सम्मुख उसके द्वन्द्व को प्रकट करने से कब बाज आये हैं—

मैं अपने मानस के भीतर
था व्यस्त मनन में ; चिन्तन में
साँसें जग से कह आती थीं
मेरे अन्तर का द्वन्द्व-दहन।
एकाकीपन भी तो न मिला।

—आकुल अंतर

आकुलता की यह स्थिति जहाँ कवि को दूसरों की संवेदना को निरर्थक मान लेने के लिए प्रेरित करती है, वहीं वह इस संवेदना को धोखे का ही व्यापार समझने को बाध्य होता है। जब कोई किसी के दुःख का भागीदार नहीं बन सकता तब किसी की संवेदना स्वीकारी ही क्यों जाय ?

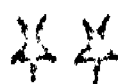
कौन है जो दूसरे को
दुःख अपना दे सकेगा ?
कौन है जो दूसरे से
दुःख उसका ले सकेगा ?
क्यों हमारे बीच धोखे
का रहे व्यापार जारी ?
क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी ?

—आकुल अंतर

और पीड़ा की इस तीव्रतम स्थिति में पहुँचकर जैसे कवि की छाती पत्थर की हो उठती है। पीड़ा की यही अधिकता जैसे उसे इस मनःस्थिति से ऊपर उठने की प्रेरणा देने लगती है। अब उसे अपना एकाकीपन स्वयं गुनाह का कारण लगने लगता है। 'आकुल अन्तर' की अन्तिम पंक्तियाँ कवि की उस मनोदशा का परिचय कराती हैं; जिसके आधार पर वह मृत्यु की अँधेरी गलियों से निकल कर अब जीवन की चहल-पहल के बीच आने को उत्सुक है। यहाँ पहुँचकर उसे बोध हो जाता है कि पीड़ा की अति ही जैसे पीड़ा-मुक्ति का कारण है। इसीलिये स्वयं को ही दोषी सिद्ध करते हुए वह सोचने लगता है :—

तू अपने में ही हुआ लीन
बस इसी लिए तू दृष्टि-हीन
इससे ही एकाकी-मलीन
इससे ही जीवन, ज्योति-क्षीण
अपने से बाहर निकल देख
है खड़ा विश्व बाँहें पसार।
तू एकाकी तो गुनहगार।

—अङ्कल शंकर



नीड़ का निर्माण फिर-फिर

छः

'बच्चन' का कवि विशिष्ट व्यक्तिवादी है। इसीलिए उस पर न तो किसी का प्रभाव है और न उसके सजग व्यक्तित्व से अपेक्षा ही की जाती है कि वह दुनिया के आधार पर ही अपनी भी राह निर्मित करेगा। सृष्टि में कोई भी प्राणी किसी दूसरे का प्रतिरूप नहीं होता। साथ ही चाहे दुःख-सुख सभी के भाग्य में लिखा क्यों न हो, न तो सबका सुख-दुःख एक ही कोटि का होता है और न दुःख-सुख का आघात, सभी के लिए किसी निश्चित मात्रा में पूर्वनिर्धारित होता है।

एकांत व्यक्तिवादी रचनाकार से यही सम्भावना होती है कि वह अपने सहज मनोभावों को ही अभिव्यक्ति देगा। किन्तु इस क्रिया में सब से बड़ी आशंका भी रहती है कि जब जीवन में ऐसा कुछ न बचे जो कथ्य हो तब? लेकिन सचेतन व्यक्तिवादी रचनाकार को नैतिक और सामाजिक अनेक रूढ़ियों से संघर्ष भी करना पड़ता है, क्योंकि यदि वह अपने प्रति आस्थावान है, ईमानदार है तो कोई निश्चित नहीं कि सभी प्रचलित परम्पराओं से उसका मानसिक मेल हो ही, इसलिये जीवन की विभिन्न स्थितियों और साहित्य की विविध धाराओं को मनोनुकूल मार्ग देना भी उसकी व्यक्ति-निष्ठता का ही स्वरूप है, उसके संघर्ष की तुष्टि का हेतु भी। ऐसे रचनाकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यही तथ्य निकलता है कि ये अपनी अभिव्यक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं और फलस्वरूप किसी भी संघर्ष—जो निश्चित ही होता है—में उन्हें तुष्टि मिलती है। बहुत अंशों तक यह संघर्ष-वृत्ति ही ऐसे रचनाकार के अहम् को जीवित रखती है जो उसके उत्तरोत्तर विकास का कारण बनती है। परन्तु जैसे जीवन अनिश्चित है वैसे ही जीवन की परिस्थितियाँ भी अस्थिर ही होती हैं। यह भी एक कारण है कि व्यक्तिनिष्ठ रचनाकार या तो बहुत बड़ा दार्शनिक होता है अथवा घोर भौतिकवादी। क्योंकि दर्शन हमारे लौकिक स्वत्व को क्षणिक बताता है और स्थूल जगत से आँखें फेर लेने की राय देता है। दूसरी ओर भौतिकवादी भोग-वृत्ति जिन्दगी की चार घड़ियों में मनो-वांछित की पूर्ति की प्रेरणा देती है। पारम्परिक उचित-अनुचित का न तो ध्यान रहता है और न उससे उद्भूत परिणामों से आशंका ही रहती है।

सन् १९३० से ३६ ई० तक की अवधि में बच्चन का दो रूप साहित्य के सम्मुख आया। १९३० ई० के सत्याग्रह आन्दोलन में बच्चन ने युनिवर्सिटी छोड़ दी। परन्तु आन्दोलन दबा दिया गया और आन्दोलन का कारण वैसे ही बना रहा। एक ओर शिक्षा का विच्छिन्न क्रम दूसरी ओर जीवन का भौतिक पहलू, आर्थिक कठिनाइयाँ और तीसरी ओर युवक बच्चन की महत्वाकांक्षाएँ—चारों दिशाओं से निराश, दुःखी बच्चन के कवि ने सब कुछ को भूल जाने के प्रयास में 'मधुशाला' का आह्वान किया। यह समय ही ऐसा था जब गम गलत करने का कवि के सम्मुख न तो कोई दूसरा मार्ग था और न समाज में कुछ करने की शक्ति। अतः उमर खैयाम की रुबाइयों का क्षणवादी दर्शन कवि के मनोनुकूल लगा। जीवन नश्वर है फिर क्यों बैठकर आँसू बहायें, क्यों न इसका मुक्त उपभोग करें? इसी प्रवृत्ति ने बच्चन के कवि से मदिरा का उद्घोष कराया। लेकिन उसकी मदिरा वह नहीं थी जो दूकानों में बिकती है। मदिरा तो मात्र मस्ती का पर्याय थी। उसे मदिरा नहीं, मस्ती चाहिए थी, मस्ती जो उसके अवसाद भरे जीवन को कुछ देर के लिए ऐसे लोक में पहुँचा दे जहाँ दुःख, पीड़ा, वेदना, द्वेष किसी के लिए कोई स्थान न हो। 'हाला' जीवन, प्रेम, विद्रोह और उत्साह का पर्याय थी—

वह हाला, कर शान्त सके जो
मेरे अन्तर की ज्वाला
जिसमें मैं बिम्बित-प्रतिबिम्बित—
प्रतिपल, वह मेरा प्याला

मधुशाला वह नहीं जहाँ पर
मदिरा बेची जाती है
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती
मेरी तो वह मधुशाला।

यह मस्ती बच्चन को सहजता से ही मिल गई थी। उन्हें किसी की कोई परवाह नहीं थी। चाहे बूढ़े चिल्लायें, चाहे नैतिक और सामाजिक मान्यताओं की ही दुहाई क्यों न दी जाय। कवि को तो ऐसा लग रहा था कि उसका जीवन क्षणिक है फिर संसार को उसका नैसर्गिक स्वभाव अखरता क्यों है? उसने ऐसा कुछ तो नहीं किया जिसे दुनिया कर नहीं चुकी है? परन्तु तभी उसे जीवन का एक ऐसा आघात लगा जिसके फलस्वरूप उसके हाथ से प्याला छूट कर गिर पड़ा और मदिरा जहाँ की तहाँ पड़ी रह गई।

सन् १९३६ ई० में अपनी प्रथम पत्नी श्यामा के देहावसान और उतनी ही दुःखद एक और घटना ने बच्चन की मस्ती ही नहीं छीन ली कवि को और भी वैयक्तिक बना दिया। जब जीवन का दुःख भी अपना और पीड़ाएँ भी अपनी; फिर...। और बच्चन ने प्रकृति के नाना उपादानों से स्नेह और सहानुभूति पाने का प्रयत्न किया, शायद और कोई चारा ही न था—मगर जब प्रकृति की भी सामर्थ्य पर भरोसा नहीं रह गया तो कवि ने 'एकान्त संगीत' का सहारा लिया। लेकिन 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना' और समय ने बच्चन के कवि से कहला लिया।

जो बीत गई सो बीत गई
जीवन में एक सितारा था,
माना, वह बेहद प्यारा था,
वह डूब गया तो डूब गया
अम्बर के आनन को देखो
कितने इसके तारे टूटे,
कितने इसके प्यारे छूटे,
जो छूट गये फिर कहाँ मिले
पर बोलो टूटे तारों पर
कब अम्बर शोक मनाता है।
जो बीत गई सो बीत गई।

—सतरंगिनी

मैं कह आया हूँ, बच्चन की वेदना वैयक्तिक है और वैयक्तिक भोगवादी दृष्टि वाला रचनाकार कभी भी अपनी सीमा से बाहर नहीं झाँकता। फिर तो उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का स्थान मिल गया तथा पुनर्विवाह भी हो गया। अब बच्चन के सम्मुख आर्थिक कठिनाइयों का न तो पूर्वरूप था और न पहली परिस्थितियाँ ही थीं। यद्यपि आज भी देश परतंत्र था परन्तु अब बच्चन ने 'स्व' को ही जगत से बड़ा मान लिया था। फिर भी इसी अवधि में 'बंगाल का अकाल' (१९४३) और 'खादी के फूल' तथा 'सूत की माला' (१९४८) रचनाएँ भी कवि ने दीं; क्यों कि चाहे वह कितना भी आत्मगत क्यों न था लोक के प्रभाव से वंचित कैसे रह पाता। यहीं एक बात और कि पुनः वांछित के पूर्ति-रूप में नई प्रियतमा के प्राप्त हो जाने पर भी बच्चन का कवि पिछले दर्द को पूर्णरूपेण भुला भी नहीं सका। क्योंकि 'मधुशाला' के प्रथम उन्मेष-काल में ही 'बच्चन' ने यद्यपि 'हलाहल' की भूमिका तैयार कर ली थी परन्तु दीमकों की कृपा से जब उसका प्रथम रूप अक्षुण्ण नहीं रह सका तो सन् १९४५ में वह भूमिका पूरी हुई। 'हलाहल' के मुक्तक स्वतंत्र होने पर भी निशा-निमंत्रण के गीतों की भाँति एक दूसरे से सम्बद्ध भी हैं और उनकी वेदना उसी काल को अभिव्यक्त करती है। 'हलाहल' के वर्तमान रंग के परीक्षण से ऐसा ही लगता है कि यदि यह पुस्तक 'निशा-निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' के पूर्व लिखी गई होती तो इसका रूप कुछ और ही होता। बहुत सम्भव है जीवन पर नियति के क्रूर व्यंग्य ने कवि के 'हलाहल' को और भी तीखा बना दिया तथा साथ ही यह भी सोचने को बाध्य किया कि 'हलाहल' (दुःख) के बिना मधु का (सुख का) कोई महत्त्व नहीं, मूल्य नहीं।

प्रस्तुत निबन्ध में 'सतरंगिनी' से 'आरती अंगारे' तक की एक भावभूमि की रचनाओं का परिचय कराना ही अभीष्ट है। इन रचनाओं में काल-भेद भी है और परिस्थितियों में भी अंतर है। कुछ और रचनाएँ भी कवि ने दी हैं परन्तु भावना-धारा का मूल एक है।

बच्चन के जीवन को उनके काव्य से कहीं अलग नहीं किया जा सकता। यद्यपि बच्चन ने वर्णनात्मक, अभिधा-प्रधान-गीत फार्म में कविताएँ भी लिखी हैं, किन्तु अपनी जिन विशेषताओं के लिये बच्चन स्मरणीय हैं वे हैं बच्चन की गीति-रचनाएँ।

मैं कह आया हूँ, जैसा प्रत्येक व्यक्तिनिष्ठ को करना पड़ता है प्रायः उसी ... बच्चन ने प्रारम्भ से ही संघर्षों का सामना किया। और ये तूफान थे जिनके

को देखकर कवि ने अपनी शक्ति भी पहचान ली। अब न उसे संघर्षों का भय रहा न अपनी समर्थता पर अनास्था। इसीलिए जब कवि ने अँधेरी रात के अवसादमय वातावरण को दूर करने के लिए दीपक की व्यवस्था को, तो मात्र दिया जला कर चुपचाप बैठ ही नहीं गया वरन् जिस सहयोगी की स्मृति उसे जीवन से विरत किए दे रही थी उसीकी साकार प्रतिमा भी अपने सामने बिठा ली। उसका यह आचरण अनेक आदर्शवादियों को खला, वे तो उसे एक ही रूप में देखना चाहते थे परन्तु कवि ने मुक्तकंठ से कहा—

क्रुद्ध नभ के वज्र दंतों में
उषा है मुसकराती
घोर गर्जनमय गगन के
कंठ में खग-पंक्ति गाती
एक चिड़िया चोंच में तिनका-
लिए जो जा रही है
वह सहज मे ही पवन-
उंचास को नीचा दिखाती
नाश के दुख से कभी-
दवता नहीं निर्माण का सुख
प्रलय की निस्तब्धता से
सृष्टि का नव गान फिर-फिर

—सतरंगिनी

यह उद्घोप किसी के लिए उत्तर नहीं था वरन् कवि-जीवन की अपनी प्रतिक्रिया थी जिस का आधार उसे प्रकृति के विविध दृश्य-चित्रों में मिल जा रहा था। यूँ कहें कि चाहे युग और स्थितियों में अन्तर कितना ही क्यों न पड़ गया हो पर कवि को अपने आँसू भूले नहीं थे। वह देख चुका था कि विश्व की प्रशंसा भी अस्थिर है और उसका उपहास भी। इसलिये जो अवधि मिली है उसका पूर्ण उपभोग ही जीवन का ध्येय होना चाहिए। तभी तो उसने कहा—

कल सुधारूँगा हुई
संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा
अन्याय के प्रतिकूल

आज तो कह दो कि मेरा-
बंद शयनागार।
सुमुखि, ये अभिसार के पल
चल करें अभिसार।

—सतरंगिनी

वैयक्तिक भावना-धारा की आधार भूमि होती है भौतिक अस्तित्व की स्वीकृति। इसीलिये इसमें आशंका और सन्देह का विशेष योग होता है। वैयक्तिक कविता मानव-मुक्ति की कविता होती है; इसे न तो कोई बन्धन स्वीकार होता है, न नियम। फलस्वरूप आत्मिक अभिव्यक्तिकामी रचनाकार किसी सिद्धान्त का सहारा न ढूँढ़ कर अपनी स्थितियों का ही प्रकटीकरण करता है। तभी तो बच्चन गा उठते हैं—

काल सागर में न कण-कण
ये कहीं खो जाँय
आदि होते ही न इनका
अंत भी हो जाय
समय दुहराता नहीं वह
स्नेह का उपहार,
सुमुखि, ये अभिसार के पल
चल करें अभिसार।

—सतरंगिनी

और इसी प्रकार—

मैं जगत के ताप से डरता नहीं अब,
मैं समय के शाप से डरता नहीं अब,
आज कुंतल छाँह मुझ पर तुम किये हो।
प्राण, कह दो, आज तुम मेरे लिये हो—

—मिलन-यामिनी

तुम समर्पण बन भुजाओं में पड़ी हो,
उम्र इन उद्भ्रान्त घड़ियों की बड़ी हो,

—मिलन यामिनी

× ×

सूर्य जब ढलने लगा था कह गया था,
मानवो, खुश हो कि दिन अब जा रहा है,
जा रही हैं स्वेद, श्रम की क्रूर घड़ियाँ,
औ समय सुन्दर, सुहाना आ रहा है,
छा गई है शान्ति खेतों में, वनों में
पर प्रकृति के वृक्ष की धड़कन बना-सा
दूर, अनजानी जगह पर एक पंछी
मन्द लेकिन मस्त स्वर से गा रहा है,
औ धरा की पीन पलकों पर विनिद्रित
एक सपने-सा मिलन का क्षण हमारा,
स्नेह के कंधे प्रतीक्षा कर रहे हैं
झुक न जाओ और देखो उस तरफ भी—

प्राण, संध्या झुक गई गिरि, ग्राम, तरु पर
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद
मेरा प्यार पहली बार लो तुम।

—मिलन-यामिनी

और फिर तो जैसे सुख की स्थितियाँ न चाहने पर भी कवि को बाहर झाँकने को प्रेरित कर ही देती हैं। आज वह बेहद खुश है। उसे अपनी प्राप्ति से पूर्ण तोष है। परन्तु—

जी उठा मैं, और जीना प्रिय बड़ा है,
सामने, पर, ढेर मुरदों का पड़ा है,
पा गया जीवन, संजीवन खोजता हूँ
मैं प्रतिध्वनि सुन चुका, ध्वनी खोजता हूं।

—मिलन-यामिनी

वह तो अब दूसरों की पीड़ा की अनुभूति से भी करुणा-विगलित हो जाता है। और यही बच्चन का मुख्य स्वर है। इसका समाधान आगे हो जायगा। हाँ, तो अभी मिलन-यामिनी बीती भी नहीं थी कि बच्चन को जैसे तोष हो चला। आखिर प्यास की भी तो एक सीमा होती है। और प्यास यदि वह है जो तृप्त न हो, फिर भी जिन्दगी में और काम भी तो हैं। यूँ १९५२ से ५४ तक का समय कवि ने इंगलैण्ड में बिता दिया। इस काल में भी जैसा बच्चन ने स्वयं लिखा है—

'और यह स्वाभाविक ही है कि इन बहुत सी कविताओं में मेरे प्रवास की अनुभूति और वातावरण की छाप पड़ी है—कहाँ और कैसे इसे देखना, मेरी समझ में कल्पना-प्रवण पाठक के लिये कठिन नहीं होना चाहिए। और—"बाबा तुलसी-दास के गीत-संग्रह 'विनय पत्रिका' से यह प्रेरणा ली कि इसे 'प्रणय-पत्रिका' कहा जाय। उसका बीज मंत्र विराग, तो इसका राग। विराग की उस आकाशी स्थिति को तो विरले संत ही पा सकते हैं, पर अपनी इस धरती पर जो बहुरंग अनुभूतियां हैं वे भी हमारी आस्था माँगती हैं और हमारे कंठों से मुखरित होने का अधिकार रखती हैं और उन्हीं को वाणी देने का प्रयास इन गीतों में किया गया है। ('आरती अंगारे' की भूमिका, पृष्ठ १४)

यद्यपि मिलन-यामिनी की मूल चेतना और प्रणय-पत्रिका में अंतर है पर कारण एक ही है। हाँ, यहाँ आते-आते बच्चन का व्यक्ति जैसे ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकारने लग गया है। एक वे दिन थे जब उसे प्रार्थना और तपस्या मनुष्य की पराजय की वजहें मालूम होती थीं किन्तु समय ने कवि को जैसे अनेक कोणों से प्रभावित किया है।

'प्रणय-पत्रिका' की मूल चेतना भौतिक होती हुई भी कहीं-कहीं अनायास ही किसी रहस्य की ओर उन्मुख हो जाती है। कवि ने स्वयं समर्थन किया है—"शायद एक स्थिति ऐसी भी है जहाँ राग और विराग एकाकार हो जाते हैं और दोनों मिलकर एक ऐसे जीवन की संवर्द्धना करते हैं जो दोनों से परे है।" ('आरती अंगारे' की भूमिका, पृष्ठ १४) आश्चर्य नहीं कि बच्चन के इस मानसिक परिवर्तन ने ही उनसे एक संन्यासी के आदेश पर 'गीता' का अवधी में 'जन-गीता' शीर्षक से अनुवाद कराया। चाहे जो भी हो; प्रणय-पत्रिका में राग ही अधिक है और प्रवास में लिखे जाने से उसमें विप्रलम्भ की ही प्रधानता है।

'प्रणय-पत्रिका' के ही दो उदाहरणों से कवि के परिवर्तित भावजगत का कुछ बोध हो जायगा—

रात आधी, खींच कर मेरी हथेली
एक उंगली से लिखा था प्यार तुमने।
फासला कुछ था हमारे बिस्तरों में
और चारों ओर दुनिया सो रही थी,
तारिकाएँ ही गगन की जानती हैं
जो दशा दिल की तुम्हारे हो रही थी,

मैं तुम्हारे पास होकर दूर तुमसे
अध जगा-सा और अध सोया हुआ था
रात आधी, खींच कर मेरी हथेली
एक उंगली से लिखा था प्यार तुमने।

एक बिजली छू गई सहसा जगा मैं
कृष्ण पक्षी चाँद निकला था गगन में
इस तरह करवट पड़ी थी तुम कि आँसू
बह रहे थे इस नयन से उस नयन में

मैं लगा दूँ आग इस संसार में, है—
प्यार जिसमें इस तरह असमर्थ, कातर
जानती हो, उस समय क्या कर गुजरने
के लिये था कर दिया तैयार तुमने ?
रात आधी—

एक ओर जहाँ उपर्युक्त अभिव्यक्ति 'मिलन-यामिनी' के निकट है दूसरी ओर—

तन के सौ सुख, सौ सुविधा में
मेरा मन वनवास दिया-सा।

* *

गगन, गगन के ऊपर घन,
घन के ऊपर है उडगन-पाँती
उडगन के ऊपर बसता है
प्राण-पपीहे का प्रिय स्वाती
उसकी आँखों के करुणा-कण
का सपना होठों पर अंकित—
कर, किसने सागर की गोदी में
बिठला उपहास किया-सा।

—प्रणय-पत्रिका

धरती को छलना और आकाश को छलिया मान किसी धुँधली आवाज के सहारे कवि ऊपर जाना तो चाहता है पर पंख नहीं। और आगे चलकर कबीर दुहराते हुए—

लाज-मरा जाता हूँ कहते,
मैं सागर के बीच पियासा ।

—प्रणय पत्रिका

जब वह सागर के बीच अपनी अतृप्ति का भेद खोलता है तो निश्चित रूप में उसकी अभिव्यक्ति से कबीर-सी निश्छलता और आत्म-प्रकाशन का बोध नहीं होता, पर यहीं यह भी कि एक समीक्षक ने 'प्रणय पत्रिका' की रचनाओं को (आइडियल लव लेटर्स) कह कर जैसे इन्हें सतही स्तर का कहा है । (रामस्वरूप चतुर्वेदी, आलोचना अंक २५, पृष्ठ १६७) मगर उसे कौन समझाये कि चाहे वह अर्थ कोई भी क्यों न ग्रहण करे—स्वतंत्र है—परन्तु प्रणय पत्रिका का अंग्रेजी नाम (आइडियल) लव लेटर्स कोई बुरा नहीं है ।

इसी 'प्रणय पत्रिका' की अगली कड़ी हैं 'आरती-अंगारे' की रचनाएं । स्वयं बच्चन ने ही 'आरती-अंगारे' की कविताओं को प्रणय पत्रिका की कल्पना के अंतर्गत माना है । परन्तु मैं ऐसा नहीं मानता । प्रथम तो प्रणय पत्रिका, चाहे राग-विराग जो भी हो, वैयक्तिक भाव-भूमि पर आधारित है और द्वितीय उसका स्वर अंतर्मुखी है । दूसरी ओर आरती खण्ड की कविताएँ देश-विदेश के महान कहे जानेवाले कवि-कलाकारों की स्मृतियाँ हैं जिन्हें उनके प्रति कवि की श्रद्धांजलि कहें तो अधिक उपयुक्त होगा । 'अंगारे' खण्ड की रचनाओं में कुछ अवश्य ही प्रणय-पत्रिका की कल्पना के निकट हैं परन्तु वहीं ऐसी रचनाओं की भी संख्या कम नहीं है जिनमें कवि ने सम-सामयिक हिन्दी समीक्षकों की दायित्वहीनता, कवि का स्वाभिमान, अपनी उपलब्धियों—और साथियों में ऐसे जिन्हें घर फूंक तमाशा देखना भी विज्ञापन का कारण है—का वर्णन किया है । चाहे जो भी हो, आरती खण्ड की रचनाओं में भी दो प्रकार हैं । एक तो ऐसी कविताएँ जो मात्र श्रद्धांजलियां हैं उनके प्रति जो अपने काल में सशक्त और गौरवमय थे, इनमें कवि और शिल्पी दोनों हैं । दूसरा प्रकार ऐसी कविताओं का है जिनमें कवि ने अपने पूर्वजों का स्मरण किया है । और दूसरे प्रकार की रचनाएँ; कई कारणों से पाठक को ज्यादा प्रभावित करती हैं तुलना में पहले प्रकार के गीतों की । इन कविताओं से एक ही साथ बच्चन के जीवन और विचारों की अनेक बातें ज्ञात होती हैं : (i) कवि की, पूर्ववर्ती कवि-कलाकारों के प्रति श्रद्धा-भावना, उनसे अपना मानसिक रागात्मक सम्बन्ध, (ii) कवि के पूर्वजों का परिचय जो कवि के समझने में सहायक होगा, (iii) 'प्रणय पत्रिका' का परिशिष्ट (i) कवि का आत्म-निरीक्षण और काव्य-सम्बन्धी वांछा और अन्त में हिन्दी के वर्तमान समीक्षकों के प्रति कवि का दृष्टिकोण । तात्पर्य यह कि 'प्रणय पत्रिका' का कवि 'आरती-अंगारे' तक पहुँचते-पहुँचते

विस्तृत भाव-भूमि में फैल गया है—जो उस की भावी कविता की भूमिका का प्रारम्भ-सा प्रतीत होता है। यूँ—

(श्रद्धांजलि) –१– ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक।

(पिता के प्रति)–२–हर खुशी में हर मुसीबत में मुझे हे पूज्य
तुम ही याद आते।
था सबल समझा कभी तुमने मुझे या
भावनाओं में बहे थे,
याद हैं वे शब्द मुझ को जो कि तुमने
मृत्यु-शय्या पर कहे थे--
मैं बड़ा सौभाग्यशाली उस पिता को
और उस माँ को समझता
हूँ कि जिसके पूत के मजबूत-पाएदार कांधे
लाश उसकी हैं उठाते।
हर खुशी में हर मुसीबत में मुझे हे पूज्य
तुम ही याद आते।

(प्रेम-भावना)–३–बावली-सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही
हो गया आसक्त।

(समीक्षकों के
प्रति)–४– मैं तुम्हारा स्नेह, सम्वेदन, समादर चाहता हूँ
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।

(आत्म-प्रकाशन) –५– छप चुकीं मेरी किताबें पूरबी औ
पच्छिमी-दोनों तरह के अक्षरों में
औ सुने भी जा चुके हैं भाव मेरे
देश औ' परदेश—दोनों के स्वरों में
पर खुशी से नाचने को पाँव मेरे
उस समय तक हैं नहीं तैयार; जबतक,
गीत अपना मैं नहीं सुनता किसी--
गंगो जमुन के तीर फिरते बावले से।
अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे
आज तू ही बोल मेरे भी गले से।

—आरती और अंगारे

इन कुछेक पंक्तियों से पुस्तक में वर्णित कवि की भाव-भूमियों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इन रचनाओं के सम्बन्ध में अधिक न कह कर कवि की इस सतत परिवर्तनशील काव्य-धरातल का कारण ढूंढ़ने पर उसका जीवन ही मिलता है। जीवन की बदलती स्थितियाँ और सतत परिवर्तित होते जीवन तथा मानव-मूल्य यही कवि की प्रस्तुत आधार-भूमियों में अंतर के लिए उत्तरदायी हैं। इनमें किसी प्रकार का दर्शन और सिद्धान्त ढूंढ़ना उनके ही लिये सम्भव है जो दर्शन और सिद्धान्त से अलग न तो भोजन करते हैं, न देखते हैं और न प्यार करते हैं। हाँ, इन रचनाओं के परिचय के समय मुझे 'मिलन यामिनी' की कुछ पंक्तियाँ बरबस याद आ रही हैं–

जिस दिन मेरी चेतना जगी मैंने देखा
मैं खड़ा हुआ हूँ इस दुनिया के मेले में,
हर एक यहाँ पर एक भुलावे में भूला,
हर एक लगा है अपनी-अपनी देन्ले में।
कुछ देर रहा हक्का-बक्का, भौचक्का-सा-
आगया कहाँ, क्या करूँ यहाँ, जाऊँ किस जां?
फिर एक तरफ से आया ही तो धक्का-सा
मैंने भी बहना शुरू किया उस रेले में,
क्या बाहर की ठेला-पेली ही कुछ कम थी,
जो भीतर भी भावों का ऊहापोह मचा,
जो किया, उसी को करने की मजबूरी थी,
जो कहा, वही मन के अन्दर से उबल चला,
जीवन की आपाधापी में कब वक्त मिला
कुछ देर कहीं पर बैठ कभी यह सोच सकूँ
जो किया, कहा, माना उसमें क्या बुरा-भला।
—मिलन यामिनी

और अब केवल इतना भर, कि रचनाओं की मूल चेतना तथा अलंकरण और भाषाशिल्प सभी में थोड़ा-बहुत अन्तर के बावजूद भी एक शीर्षक में इनका परिचय क्यों कराया गया? इसका उत्तर–कि इस एक और पहलू से होकर निकल चला।

☆ ☆

मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया | सात

एक दिन 'बच्चन' की मस्ती ईर्ष्या का विषय थी। यौवन के आवेग में उन्होंने सुख से जिन्दगी जी जाना ही ध्येय माना था। हाथों में मधुभरा प्याला, आँखों में खुमारी, सामने रंगीनियाँ और मन में एक अजीब सपनों का जगमगाता संसार। परन्तु संसार अचिरस्थायी है, इस नियम ने 'बच्चन' से जैसे सब कुछ छीन लिया, जिसके लिये वे अभी तैयार भी नहीं थे। यह नहीं कि उनकी नाव बिना ज्वारों वाले सागर पर स्वाभाविक गति से, बाधा-विहीन बढ़ती जा रही थी; बल्कि यह कि उनकी भुजाओं को अपनी शक्ति पर, ज्वारों की तुलना में, अधिक आस्था थी। और तभी काल की निगाहें उन पर ऐसे पड़ीं कि समुद्र जैसे उफन पड़ा, फिर तो नाव की क्या बिसात, मगर संघर्ष-अवधि में ज्वारों के पार जाने के उल्लास में अपनी आँखें बन्द किये 'बच्चन' सम्पूर्ण धीरता बटोरने में लगे थे कि आँखें खुलीं तब; जब उनकी नाव किसी तट से टकराई और डूबने लगी। "यहाँ पहुँचकर—यह—?" इस स्थिति का ज्ञान तो उन्हें था, इस प्रकार का परिणाम वे सुन चुके थे, साथ ही जीवन के यात्रा-विवरणों में अनेक बार पढ़ भी चुके थे, पर उनके लिये भी ? और वे कुछ क्षण के लिए स्तम्भित ही नहीं हो गये—संज्ञाहीन हो जायेंगे या हो जाते तो भी भला था—जैसे निश्चेष्ट भी।

'उमर खैयाम' की मधुशाला में 'बच्चन' ने केवल विदेशी शराब पी ली और उसका नशा कई वर्षों तक बना रहा—यह बात सत्य नहीं, सत्य का अंश है। 'उमर खैयाम' ने जो मदिरा दी थी वह केवल खैयाम की निजी थाती नहीं थी वरन् एक ऐसी जीवन-सुरा थी जो प्रत्येक मधुऋतु में प्रकृति के हाथों धरती पर रहनेवाले चर-अचर को स्वेच्छया पिला दी जाती है। हाँ, उसका रहस्य खैयाम से ही 'बच्चन' को मिला था। फिर तो 'बच्चन' ने अपने 'ट्रेडमार्क' पर निजी दुकान खोल ली। वैसे 'गुडविल' खैयाम का भी था क्योंकि अनेक खुदरा खैयाम के लेबुल को ही देखकर इस दुकान की ओर बढ़े थे। और साख बढ़ गई।

बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा थी, साथ ही 'बच्चन' का माल नया था। इसलिये उनकी नकल तो हुई ही, सम-सामयिक व्यापारियों और वस्तुनिरीक्षकों ने द्वेष-

वश भी 'वच्चन' के विरुद्ध भाँति-भाँति के प्रचार प्रारम्भ कर दिये। यह प्रचार 'वच्चन' को भला लगा, लाभ-प्रद सिद्ध हुआ, क्योंकि उनके माल की खपत बढ़ गई। अब तो उन्होंने एक ही 'ट्रेडमार्क' पर कई और 'लेबुल' की वस्तुएँ निकाल दीं—'उमर खैयाम की मधुशाला', 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश'। बहुत बाद भी; यद्यपि अब उन्होंने दुकान उठा दी थी परन्तु उन्हीं कच्चे मालों से उन्होंने 'हलाहल' नाम से एक और वस्तु तैयार कर ली थी, जिसका आधा भाग पहले ही पक चुका था।

और जब नाव साहिल से टकराई थी तो 'वच्चन' की आँखों के आगे अँधेरा छा गया था। न कुछ सूझता था न कुछ देखने को ताब ही बाकी थी उनमें। इसीलिये उस वीरान, निर्जन सागर के किनारे ऊपर आकाश तथा नीचे धरती के बीच उन्होंने प्रकृति को ही अपना सहयोगी बनाया था। फिर जो प्रकृति का स्नेह व्यापार दिखा तो अपना एकाकीपन खलने ही नहीं लगा, जिन्दगी मौत से भी बदतर मालूम होने लगी। फिर भी उन आँसुओं में एक तोष की किरण थी—शायद आँसू दर्द के कम हो जाने के लिये ही बहे थे—जिसने 'वच्चन' की 'कामनों' से 'निशानिमंत्रण', 'एकांत संगीत' और 'आकुल अंतर' शीर्षक से कुछ अन्य माल भी बाजार में निकालने में योग दिया। पहली वस्तुओं के पीछे वच्चन की वैयक्तिक सूझ या वैयक्तिक संतोष की ही भावना थी तथा दूसरे प्रकार के माल के साथ भी वही। वह समय कुछ और था! देश का इतिहास बदल रहा था, साहित्य व्यापार में जनता की रुचि तथा जनता के हित का ध्यान रखा जा रहा था और 'वच्चन' ने अपनी विचारधारा के अनुसार जनता के लिये ही अपने को भी प्रस्तुत किया। यह जनता उस जनता से कुछ भिन्न थी जरूर पर एकदम ऐसी भिन्नता नहीं जो दो खेमों में बाँट दे।

फिर तो आँखें सफेद हो आईं, आँसू सूख गये और दर्द की अति ही जैसे दवा बन गई। चारों ओर फैले अन्धकार के बीच जब ऊब मालूम होने लगी, जब ऐसा लगने लगा कि यह प्रकृति और नियति की एक चुनौती है जो स्वाभिमान एवं आत्माभिमान को ललकार रही है तो उन्होंने दीपक जलाने की व्यवस्था की। अंधकार को तो छँटना था ही, वह छँट गया।

नये प्रकाश ने 'वच्चन' के लिये नये-नये उत्साह और आस्था के फूल खिलाये। अब वे पुनः प्रारंभिक स्थिति की मादकता को लौटा लाना चाहने लगे। इसी मानसिक स्थिति में उन्होंने 'सतरंगिनी', 'मिलनयामिनी' 'प्रणय-पत्रिका' एवं 'आरती-अंगारे' के 'अंगारे' शीर्षक खंड का निर्माण किया। एक बात और—

प्रारम्भ में 'बच्चन' की मस्ती उनकी अपनी थी, दूसरे दौर में उनका रोना भी अपना था। यद्यपि नैसर्गिक और सार्वजनिक, परन्तु तीसरी उठान में जब उन्होंने नये जीवन-जगत का अनुभव किया तो स्वभावतया उनकी पीड़ा बहिर्मुखी हो गई। अब वे दूसरों के आँसू, दूसरों के हास को भी महत्व देने लगे। इसी अवधि में 'बंगाल का काल', 'सूत की माला', 'खादी के फूल' और आगे चलकर 'बुद्ध और नाचघर', 'आरती और अंगारे' का प्रथम खंड तथा 'धार के इधर-उधर' से भी कवि ने जनता को परिचित कराया।

'बंगाल का काल' से 'धार के इधर-उधर' की अवधि बहुत बड़ी है और साथ ही इस बीच 'बच्चन' की रचनाओं का 'टोन' और 'मुड' दोनों बदलता रहा है। फिर भी ये रचनाएँ बाह्य-जगत की अभिव्यक्ति करती हैं। अत: इनका परिचय एक शीर्षक के अन्तर्गत कराना ही निबन्ध का उद्देश्य है। वैसे एक समीक्षक ने 'सतरंगिनी' को भी 'बंगाल का काल', 'सूत की माला' प्रभृति के साथ ही जोड़ने का प्रयत्न किया है। लेकिन उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि दोनों की भावभूमि एक दम अलग है। 'सतरंगिनी' जहाँ कवि को, नैराश्य से ऊबते हुए कवि को 'है अंधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है' का जीवन-संदेश देती है, वहीं 'बंगाल का काल' प्रभृति संग्रहों में 'बच्चन' ने मानव की दुर्बलता पर आक्रोश प्रकट किया है। कभी-कभी उन्हें क्षोभ भी हुआ है और कभी-कभी मनुष्य की नैतिकता और बाह्याचार पर हँसी भी आई है।

यों १९४३ से लेकर १९५८ तक पन्द्रह वर्षों के अन्तराल में कवि-जीवन का रूप अस्थिर रहा है, अस्थिर रही है उसकी भावनाधारा और इसमें इस परिवर्तन में उसे सुख मिला है। जीवन में जैसे परिवर्तन निर्बाध नियम है—इसका अनुभव भी और इससे संतोष भी। वह स्वयं कहता है—'और न मेरा व्यक्तित्व ही सुस्थिर है और न कवित्व ही। दोनों का विकास होता रहा है। पर, जहाँ मेरे कल का व्यक्तित्व मेरे आज के व्यक्तित्व में समा गया है और उसकी अलग कोई सत्ता नहीं रह गई, वहाँ मेरी कल की कविता भी मौजूद है और आज की भी मौजूद है। जैसे मेरे कल के व्यक्तित्व में आज का व्यक्तित्व बीज रूप में वर्तमान था, वैसे मेरे आज के व्यक्तित्व में मेरे कल का व्यक्तित्व भी समाया है।" (बच्चन, आरती और अंगारे, पृष्ठ ९)।

खैर, रचनाकार की आस्था, अपनी रचना के साथ उसका रागात्मक सामंजस्य तो होता ही है। हमें देखना यह है कि इन रचनाओं से 'बच्चन' के पाठक को मिलता क्या है?

'बंगाल का काल' देश के लिए एक बहुत बड़ी समस्या था। पराधीन भारत का सचेतन साहित्यकार उससे आँखें बचाकर कैसे निकल जाता; यद्यपि दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि चाहे देश को जगाने और जनता में पुनर्जागरण के शंख फूँकने वाले अनेक भले ही हों—ये भी—पर कम-से-कम हिन्दी काव्य को 'बंगाल का काल' जैसे साधारण घटना लगा और दो-एक छिट-फुट रचनाओं के कहीं कुछ नहीं लिखा गया। और जब हम उस विषय पर बंगला भाषा का साहित्य, विशेषकर काव्य देखते हैं तो वहाँ भी निराशा ही होती है। शायद उसी कमी की पूर्ति के निमित्त 'बंगाल का काल' का बंगला अनुवाद भी हुआ है—चाहे मनोवृत्ति जो भी हो।

बंगाल की भूखी और धर्म में, ईश्वर और शक्ति में—अलौकिक शक्ति में—विश्वास करने वाली जनता को जब कवि ने अन्न के अभाव में करवटें बदल-बदल कर प्राण खोते देखा तो उसे अपनी पराधीनता पर कम; बंगाल की अकर्मण्य जनता की शक्तिहीनता पर अधिक दुःख हुआ। उसने धिक्कारते हुए कहा—क्या तुम उसी बंगाल के निवासी हो, जहाँ की प्रकृति और प्राणियों को निहारते ही कवि की आँखें पुलकित हो गयीं।

अनायास उसके मुख से—

> सुजलाम्, सुफलाम्, मलयज शीतलाम्
> शस्यश्यामलाम् मातरम्।

का स्वर मुखरित हो उठा। वही स्वर जिसकी सांसों में, देश में आत्म-सम्मान, आत्म-शक्ति तथा स्वाधीनता का भाव भरने की गंध थी। वही बंगाल जहाँ रवीन्द्र की वाणी गूँजी थी? वही बंगाल आज मरते हुए भी अपनी शक्ति को भुलाये बैठा है—जो भूल गया है कि—

> निर्बल के बल राम नहीं है
> निर्बल के बल है दो घूँसे।
>
> —'बंगाल का काल'

जो भूख का अर्थ भी भूल गया है—

> हमें भूख का अर्थ बताना
> भूख धरा पर जब चलती है

× × ×

वह अन्याय चबा जाती है
अन्यायी को खा जाती है
और निगल जाती है पल में
आततायियों का दुःशासन,
हड़प चुकी अब तक कितने ही
अत्याचारी सम्राटों के
छत्र, किरीट, दंड-सिंहासन।

—'बंगाल का काल'

आगे चलकर महात्मा गांधी के असामयिक तथा मार्मिक अन्त ने भी कवि को झकझोर दिया। 'बच्चन' का आन्तरिक संवेदनाओं का कवि तो पहले से ही लोक-जीवन और भौतिक जगत की ओर उन्मुख हो चुका था उसमें महात्मा जी का देहावसान। विश्व की इतनी बड़ी घटना पर मौन साध जाना 'बच्चन' जैसे संवेदनशील कवि के लिए वश की बात नहीं थी। यद्यपि महात्मा जी के निधन पर भी कवि की करुणा मात्र रुदन या नियति का व्यंग्य भर नहीं अपितु अनेक तर्कों से युक्त है जो उसकी भावुकता से अधिक चिन्तनशीलता का परिचायक है। यही कारण है कि 'निशानिमंत्रण' तथा 'एकांत संगीत' की-सी पीड़ा और अन्तर्वेदना ढूँढ़ने वाले आलोचक को 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' निराश कर देते हैं। वह आता तो है किसी विशेष उद्देश्य से, क्योंकि निशानिमंत्रण' और 'एकांत संगीत' उसे रुला चुके हैं और इस रोने में भी उसे एक अतीन्द्रिय सुख का बोध हुआ है, परन्तु यहाँ तो बहुत सूखा-सूखा लगता है? इसका मुख्य कारण कवि की वैयक्तिक तथा देश की ऐतिहासिक स्थितियाँ हैं जिन्हें भुलाकर इन रचनाओं का मूल्यांकन एकपक्षीय होगा, साथ ही हमें बच्चन के पूरे जीवन और उसके परिवर्तित रूपों तथा विषय के प्रति कवि की आत्मिक निकटता को भी देखना होगा—

वे भावी मानवता के हैं आदर्श एक,
असमर्थ समझने में है उसको वर्तमान,
वर्ना सच्चाई और अहिंसा की प्रतिमा
यह जाती दुनिया से होकर लोहू-लुहान।

* * *

भारत का गाँधी व्यक्त नहीं तब तक होगा
भारती नहीं जब तक देती गाँधी अपना

जब वाणी का मेधावी कोई उतरेगा,
तब उतरेगा पृथ्वी पर वाणी का सपना ।

—खादी के फूल

यों 'खादी के फूल' और 'सूत की माला' की रचनाएँ चाहे अपनी सहज भाषा और स्पष्ट भाव के लिये भले ही पढ़ी जायँ, परन्तु सचमुच उनमें मार्मिकता की कमी है। केवल इतना ही और कि 'बच्चन' के कवि ने—

कोई भविष्य कवि गाँधी को भी देखेगा।
दर्शायेगा भी उनकी सत्ता दुनिया को।

—खादी के फूल

जब अपनी इस उक्ति पर संतोष कर लिया है तो पाठक को भी यही सोच लेना चाहिए कि गाँधी से उसे जो कुछ भी काव्य के माध्यम से मिलना है वह कोई भावी कवि देगा 'बच्चन' के कवि में वह शक्ति नहीं। उसने आह्वान अवश्य किया है जो इसके उद्देश्य की पवित्रता के लिये नाकाफी नहीं है।

इस संदर्भ की अन्य रचनाओं में 'बुद्ध और नाचघर' में कवि विशेष सफल ही नहीं अपने विशेष रूप में भी वह पाठक और आलोचक दोनों को आकर्षित करता है। यों तो 'बच्चन' ने सर्वप्रथम अतुकांत छन्दों में ही अपनी रचनाएँ की थीं जो छपी नहीं। आगे चलकर १९४३ में 'बंगाल का काल' उनकी प्रथम रचना थी जो तुकहीन थी। 'बुद्ध और नाचघर' में भी कवि की १९४४ से १९५७ तक की कविताएँ संग्रहीत हैं जो निश्चित रूप से अपना एक अलग स्वत्व ही नहीं रखतीं उनमें बहुत कुछ ऐसा है जो अत्याधुनिकता से युक्त है।

यहाँ युवकों को उनकी शक्ति का कवि परिचय कराता है तो कभी दोस्तों के सदमों को व्यक्त कर यथार्थ का उद्घाटन करता हुआ व्यंग्य करता है। जीवन के बोझ से दबे मानव के संघर्ष को वाणी देता हुआ वह नागिन और देव-कन्याओं की नगरी में चला जाता है तो कभी विभिन्न प्रकार के लोगों की आस्था को जाँचने, उन्हें पुरातन से चले आते लौकिक मान्यताओं को बताने तथा उन विश्वासों की पृष्ठभूमि से परिचित कराने का प्रयत्न भी करता है। यहाँ एक बात जो विशेष लगती है वह यह कि कवि जैसे अपनी पिछली भूमि से सुख-दुःख, हास-विलास से अलग कट कर भारत के हृदय के पास पहुँच गया है। जैसे उसके अन्तर में दबा हुआ उसका गँवई सहज रूप जाग्रत हो उठा है। शायद 'बच्चन' की आज की (१९६० की) लोकधुन पर आधारित रचनाओं की पृष्ठभूमि है

'बुद्ध और नाचघर' की कुछ रचनाएँ जिनसे ऐसा लगता है कि कवि भारत की आत्मा को पहचान चुका है और उसके अत्यधिक निकट जाने का प्रयास कर रहा है। 'नीम के दो पेड़' तथा 'दिल्ली के बादल' कवि की इसी भाव-भूमि की ओर संकेत करते हैं।

इस संग्रह की विशिष्ट रचनाओं का उल्लेख करते वक्त "पपीहा और चील-कौए", "चोटी की बरफ", "चाँद की और बिजली की रोशनी" "युग का जुआ", "जीवन के पहिये के नीचे, जीवन के पहिये के ऊपर", "तुम्हारी नजरों में वे, उनकी नजरों में तुम" तथा "बुद्ध और नाचघर" का नाम लेना ही होगा।

भाषा, शिल्प, विषय-वस्तु तथा काव्यत्व इन तत्वों के अतिरिक्त, इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये अट्ठाइस रचनाएँ कवि की विभिन्न भाव-स्थिति और विभिन्न मानसिक प्रक्रिया का परिचय देती हैं।

'आरती और अंगारे' का प्रथम खण्ड जिसमें कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों तथा शिल्पियों का स्मरण कर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि-अर्पित की है—मैं उसे भी, कवि के बाह्य जीवन से प्रभावित रचनाओं की कोटि में मानता हूँ। इन रचनाओं मे अधिक मार्मिक रचनाएँ वे हैं जो कवि के वंश-कुल के प्राणियों के प्रति उसके भावात्मक, श्रद्धात्मक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करती हैं। 'बच्चन' का पाठक जो कभी उनके अपने सुख-दुःख से प्रभावित था जिसने उनके हास और पीड़न को अपना मान लिया था, अनायास वह आरती की उन कविताओं की प्रशंसा करने लगेगा जो कवि के पिता, पितामह, आजी, माँ तथा गाँव के लोगों का एक सहज; साथ ही सफल रूप उसके सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण स्वरूप दो रचनाओं की कुछ पंक्तियाँ उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध कर सकती हैं—

तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।
वन पर्वत पर फिरते छिपते
बटमारों का नायक
जप कर जिसको बन जाता है
महाकाव्य का गायक
जो कि रहेगा थिर जब तक हिम शृंग,
लहरमय गंगा
सप्तर्षि सुझाया राजमंत्र दुहराऊँ।
क्रौंच मिथुन की पीर-तीर-सी
धँसी तुम्हारे उर में

बीज रूप यह गाथा थी जो
घटी अयोध्यापुर में
और घटित होती हर अन्तर में यह राम
कहानी
किस युग पीड़ा को उर के बीच बसाऊँ ?

—'आरती और अंगारे'

और—

हर खुशी में, हर मुसीबत में मुझे,
हे पूज्य तुम हो याद आते।
घूम आया विश्व, आधी जिन्दगी को—
पार कर यह सत्य जाना
श्रेष्ठ दुनिया में नहीं इसके सिवा कुछ
प्यार करना, गीत गाना
आज—वाणी संग में है दिल भरा है,
औ' तुम्हारा चित्र आगे
हर खुशी में हर मुसीबत में मुझे
हे पूज्य तुम हो याद आते।
था सबल समझा कभी तुमने मुझे या
भावनाओं में बहे थे
याद हैं वे शब्द मुझको जो कि तुमने
मृत्युशय्या पर कहे थे
मैं बड़ा सौभाग्यशाली उस पिता को
और उस माँ को समझता
हूँ कि जिसके पूत के मजबूत पायेदार कांधे
लाश उसकी हैं उठाते।
हर खुशी में, हर मुसीबत में मुझे,
हे पूज्य, तुम हो याद आते।

उपर्युक्त दोनों रचना-अंशों का अन्तर स्वतः स्पष्ट है। प्रस्तुत पुस्तक का अंगारे खण्ड मुझे 'प्रणय-पत्रिका' की भावना-धारा को आगे ही नहीं बढ़ाता वरन् कवि के आत्मदर्प और इगो (स्वाभिमान) को भी बड़ी कुशलता से व्यक्त करता लगता है। इसी लिये यद्यपि 'बच्चन' ने—"अब सौ गीतों का यह संग्रह छप रहा है। येसब रचनाएँ प्रणय-पत्रिका की कल्पना के ही अन्तर्गत हैं।" माना है, (आरती

श्रंगारे, पृष्ठ १४) फिर भी 'प्रणय-पत्रिका' के गीतों में कवि का वैयक्तिक राग वियोग अधिक है जबकि 'आरती' खण्ड की कविताओं में वाह्य जीवन के प्रति कवि का भावात्मक सम्बन्ध। यूँ कहें कि यहाँ विचार प्रधान है जबकि 'प्रणय-पत्रिका' की भाव-भूमि हृदय के अधिक निकट है।

'धार के इधर-उधर' में कुछ रचनाएँ विकल विश्व शीर्षक से लिखी आकुल अन्तर काल की हैं। जिनका उल्लेख स्वयं कवि ने किया है। इसकी विशेषता मात्र यही है कि ये कवि के सामयिक मनोभावों का परिचय भर उपस्थित करती हैं।

इनमें भाषा की सफाई तथा विचारों की स्पष्टता भले हो, इनमें न तो पाठक को आकर्षित करने की क्षमता है न रमाये रखने का गुण। वैसे न तो मैं रामस्वरूप चतुर्वेदी जितना निराश हूँ—"सभी कविताएँ" 'हिजमास्टर्स वायस' के रिकार्ड जैसी ही लगती हैं, क्योंकि उनमें मुख्यतः औसत नागरिक का स्वर प्रधान है. कवि का नहीं।" (आलोचना अंक २५, काव्यालोचन विशेषांक, पृष्ठ १९६) और न डा० नागेन्द्र के फतवे से ही सहमत हूँ कि बच्चन जैसे सशक्त कवि ने अच्छी रचनाओं की तुलना में साधारण रचनाएँ इतनी अधिक लिखी हैं जितनी हिन्दी के किसी श्रेष्ठ कवि ने नहीं।

'बच्चन' मुख्यत: गीतकार है। गीतविद्या की कुछ अपनी सीमाएँ होती हैं। यहाँ कवि केवल वैयक्तिक भावों की ही अभिव्यक्ति कुशलता से कर पाता है। लेकिन जब कवि गीत के फार्म में वर्णनात्मक कविताएँ लिखने लगता है—जैसे 'सूत की माला', 'खादी के फूल' 'धार के इधर-उधर' में, तो निश्चि. है कि ऐसी रचनाएँ, चाहे शिल्प और अनुभूतिया का योग जिनमें कितना अधिक क्यों न हो, दोनों का अन्तर स्पष्ट अनुभव होने लगता है। पहले प्रका. के काव्य में हृदय-तत्व, भावुकता अधिक होती है और दूसरे में बौद्धिक.। यही कारण है कि 'बच्चन' के 'निशा-निमंत्रण' तथा 'मिलन-यामि .'-कालीन गीतों की तुलना करने पर 'सूत की माला' और 'धार के इधर-उधर' का भाव बिखरा ही नहीं लगता, कवि की अपनी ही रचना के प्रति रागात्मिकता भी कम मालूम होती है। लेकिन इस प्रकार के विचार वाले समीक्षकों से निवेदन मात्र इतना है कि वे कवि के जीवन तथा देश की ऐतिहासिक स्थिति को भुला कर यदि किसी घटना विशेष पर लिखी रचनाएँ पढ़ते हैं तो यह न तो उनका अपने समीक्षक के प्रति ही न्याय है और न कवि के प्रति ही।

भाषा का सहज स्फुरण, भावों की मार्मिकता और छन्दों की संगीतात्मकता के साथ ही शिल्प का सौष्ठव यहाँ भी है जिससे 'जनता के लिये' रचना का नारा अलापने वालों को दिशा-निर्देश ही नहीं मिलेगा, एक सशक्त आधार भी। ★★

महुआ के नीचे मोती झरे

आठ

डॉ० बच्चन की १९५८ से '६२ के बीच लिखी गयी अनेक रचनाएँ, यदि मात्र लोक-धुनों पर आधारित होतीं तो सम्भवतः उनके विवेचन-विश्लेषण की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। उत्तर प्रदेश की विभिन्न लोकधुनों की टेक-तुक-लय के अनुसार दिखने वाले ये गीत परम्परागत लोक-गीत न होकर भी, लोक-जीवन के सहज सुख-दुःख, राग-द्वेष, विरह-मिलन, आत्म-अध्यात्म का ऐसा परिचय देते हैं जिनसे भारतीय ग्राम-जीवन का एक स्पष्ट चित्र ही नहीं बनता वरन् युग-स्थितियों के प्रति भी कवि की प्रतिक्रियाओं का अपना विशिष्ट रंग झलकने लगता है।

यदि इन गीतों का प्रेरणा-उत्स ढूँढ़ा जाय, तो मुझे लगता है; वह अदवि कवि के मानसिक उद्वेलन, आन्तरिक-संघर्ष की रही है। युग-जीवन की विकृतियों से त्रस्त और ऊबा हुआ कवि-मन कभी तो शासकों की स्वार्थपरता, भारतीय जन-नेताओं के लूले विश्वास और उनकी अंधी आस्था पर जम कर प्रहार करता है और कभी गाँवों में बसे देश के यथार्थ जीवन के निकट पहुँच कर उनकी निश्छलता, स्पष्टता, अल्हड़ता को वाणी देता है, सराहता है। कभी तो उसने हलधरों को अपनी शक्ति और अपने दृढ़ निश्चय के आधार पर आगे बढ़ने को ललकारा है तथा कभी उनके भोलेपन पर आँसू भी बहाये हैं।

इसीलिये इन रचनाओं की धुनें ही लोक-प्रचलित और परम्परागत नहीं हैं बल्कि इनकी मूल चेतना ही लोक-चेतना है। लोक-गीत का कथोपकथन, लोक-गीत का मुक्तक के रूप में भी एक कथा-सूत्र से जुड़े रहना और लोक-गीत का अन्तिम पंक्तियों में कोई न कोई निर्णय, कोई न कोई आदर्श-उपदेश प्रस्तुत करना—ये सम्पूर्ण तत्व इन रचनाओं में प्राप्त हैं।

बच्चन ने अपनी काव्य-यात्रा का विवरण देते हुए स्वयं लिखा है—"जीवन सफर है। एक जगह घर बना कर नहीं बैठा जा सकता।...इन्सान का कोई बस नहीं। सफर जारी रहा। जहाँ भी कुछ दिन ठहरना होगा, ठाहर-ठाट तो करना ही होगा। फिर आये गरीब, गठीले, गर्वीले, रसीले गाँव—लोक-जीवन की आधार-भूमि; कुछ झोपड़े-झोपड़ियाँ वहाँ भी डाल लीं, जहाँ से सुख-दुःख, हर हालत में जीवन का अनवरत राग उठता रहता है।" [चार खेमे चौंसठ खूंटे, पृष्ठ १८-१९]

और बहुत सीमा तक गाँव की इस गरीबी किन्तु स्वाभिमान; असमर्थता किन्तु मान्यताओं के अनुसार जीने की इच्छा, स्पष्टता और प्रत्येक मन:स्थिति में एक संस्कार-जनित विश्वास के साथ सिर उठाये रखना—जैसे तत्त्वों ने ही कवि को आकृष्ट किया है। इस क्रम में यदि बच्चन की गीत-परम्परा को सूक्ष्मता से देखा जाय तो लगेगा कि मधुकलश से आरती और अंगारे तक की गीत-रचनाएँ एक-दूसरे से मुक्त होती हुई भी एक ऐसे कथा-सूत्र से जुड़ी हुई हैं, जिनकी कथात्मकता ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। 'निशा निमंत्रण' में दिन ढलने से लेकर दिन निकलने के पूर्व तक की मानसिक यात्रा एक ओर जहाँ प्रकृति के पल-पल परिवर्तित होते दृश्यों का क्रमबद्ध इतिहास उपस्थित करती है, वहीं दूसरी ओर एक के पश्चात् दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे मनोभावों का ऐसा लेखा उपस्थित करती है जो अपने-आप में स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे से अलग नहीं हैं। गीत के प्रति कवि का यही मनोभाव, अनेक अंशों तक उसके लोक-जीवन-चित्रण की भी प्रेरणा है, ऐसा मानना अस्वाभाविक नहीं।

हिन्दी कविता की यह अवधि—जब बच्चन का कवि 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे: चौंसठ खूँटे' की तुकान्त-अतुकांत, गीत-अगीत विविध प्रकार की रचनाओं, मन:स्थितियों के प्रकाशन में लीन रहा है—बड़ी ही अराजकता तथा मूल्य-संघर्ष की कही जा सकती है। काव्य के नित्य बनते-मिटते सिद्धान्त, परिवर्तित हो रहे जीवन-मूल्य, विघटित होती आस्थाएँ और केवल छल तथा प्रपंच को प्रेरणादायक शब्दावली। झूठ, भ्रम और असंतोष-अराजकता। ऐसी युग-स्थितियों में, एक नागरिक का गाँवों की निश्छलता की ओर आकृष्ट हो जाना क्या अस्वाभाविक है? गाँव, जो आज भी; अपनी सारी उलझनों, संघर्षों के बावजूद जोर से हँसते और जोर से गाते हैं; आज भी जिनमें माटी के प्रति वही मोह है, समाज के प्रति वही सहयोग-भावना है और अतिथि के प्रति वैसी ही श्रद्धा है। जीवन को उसके यथार्थ रूप में, सोत्साह स्वीकारना ही तो गर्वीले गाँव-वासी की परम्परा रही है। जीवन के सुख-दु:ख से भागना क्या? ग्राम-वासी तो प्रत्येक सुखद-दु:खद दशा में समय के साथ चलने को ही जीवन की सार्थकता मानता है—

जीवन हँसी भी, जीवन रुदन भी
जीवन खुशी भी, जीवन घुटन भी
जो न जीवन की,
जो न जीवन की गत पर गाए
उसे नहीं जीने का हक है।

जिसे माटी की महक न भाये
उसे नहीं जीने का हक है।

—त्रिभंगिमा

और यह जीवन, केवल अपना पेट पालना ही तो नहीं। किसान, भारतीय किसान की परम्परा तो कुछ और ही है। खेतों में खड़ी फसल को हरा-भरा देखकर किसानिन जहाँ फूली नहीं समाती, वहीं वह किसी महल-अटारी से ईर्ष्या भी नहीं करती। वह तो अपनी सीमा में ही सुखी-संतुष्ट है। चिन्ता है केवल इतने भर अन्न की जिससे उसकी अपनी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ। और उन आवश्यकताओं की सीमा में साधु भी है, भिक्षुक भी, चिड़ियाँ भी हैं और कुत्ते भी। मिले तो सबको। और उसे अपने इस जीवन से ऐसा तोष है जैसे महल स्वयं उसके झोपड़े पर आश्चर्य करने लगेंगे—

पाहुन को जेवन
कुनबे को भोजन
साधू को भिच्छा
कुत्ते को जूठन
जिस घर में, उसको महलिया सिहाए।
खेत हरियाए तो मन हरियाये।

—त्रिभंगिमा

कुनबा-पाहुन, भोजन और जेवन-जेवना का अन्तर इस तथ्य की पूर्ति के लिये पर्याप्त है कि बच्चन ने केवल लोक-धुनों तक ही अपने-आप को सीमित नहीं रखा है बल्कि लोक-चेतना और लोक-शब्दावली को भी अपना साधन बनाया है। यही लोक-चेतना दूसरे जीवधारियों के संतोष—आशीर्वाद के महत्व को भी उजागर करने से नहीं चूकती। साधारण-लोक-भावना तो यही रही है—

चिड़ियाँ अघाएँ
—जो दें दुआएँ
पड़ता नहीं है अकाल रे।
चिड़ियों का भाग निकाल रे।

—त्रिभंगिमा

पर, लोक-जीवन ऐसी परम्पराओं में ही तो सीमित नहीं? वहाँ भी तो प्रेम है मिलन और विरह है, दुःख के बाद सुख और विषाद के पश्चात् हर्ष का क्रम है।

मिलन में सपर्पण और वियोग में नयनों का भर-भर आना; फिर सुख के क्षण और सारा संसार वसन्त के सदृश हास-उल्लास से परिपूर्ण—

घड़ियाँ सुबरन,
दुनिया मधुवन,
उसको, जिसको न पिया बिसरे।

—त्रिभंगिमा

मगर एकाकी सुख क्या ? सबके सुख में ही तो अपना भी सुख निहित है, सबके सुख के साथ तो अपना भी सुख सम्पृक्त है। और इसीलिये लोक-परम्परा में एक शुभसंदेश, एक शुभाशीष—

सब सुख पाएँ,
सुख सरसाएँ,
कोई न कभी मिलकर बिछुड़े।
महुआ के,
महुआ के नीचे मोती झरे।

—त्रिभंगिमा

कथोपकथन के आधार पर काव्य-कथा को आगे बढ़ाते जाना लोक-गीतों की विशेष उल्लेख्य परम्परा रही है। आज भी तो प्रिया कंचन की, स्वर्ण की माँग करती है। फिर यदि कहीं सोने की मछली मिल जाय! 'सोन-मछरी' गीत मनुष्य की इसी सौन्दर्य-पिपासा की ओर संकेत कर, प्राप्ति-भावना का प्रकाशन कर; उसके परिणाम से भी अवगत कराता है। सोन-मछरी लाने के लिये गया प्रिय जब सोन-परी लेकर लौटता है तो प्रिया व्यथित भले हो पर इस परिणाम पर उसे आश्चर्य नहीं होता। वह स्वयं अनुभव करती है—

जो है कंचन का भरमाया
उसने किसका प्यार निभाया
मैंने अपना बदला पाया
माँगी मोती की लरी, पाई आँसू की लरी।

—त्रिभंगिमा

और यह परम्परा रामायणकालीन स्वर्ण मृग से ही तो चली आरही है—

सीता ने सुबरन मृग माँगा
उनका सुख लेकर वह भागा
बच रह गई नयनों में आँसू की लरी।

—त्रिभंगिमा

बच्चन की लोक-धुनों पर आधारित रचनाएँ न तो केवल उपदेश की दृष्टि से लिखी गयी लगती हैं और न तो परम्परा का निर्वाह करने के लक्ष्य से, न तो मानवीय आचार-विचार और सामाजिक संस्कारों के प्रकाशन-निमित्त तथा न तो केवल लोक-धुनों के लोच और लालित्य के आकर्षण मात्र से। इनमें तो जहाँ एक प्रिय के प्रति आत्मिक समर्पण है, वहीं एक विशेष अभिलाषा भी—

आँगन के,
आँगन के बिरवा मीत रे
आँगन के।
रोप गये साजन
सजीव हुआ आँगन
जीवन के बिरवा मीत रे-
आँगन के।

पर, वहीं कैसी अनुकरणीय अभिलाषा है, भारतीय नारी के जीवन-उद्देश्य का कैसा चमत्कृत कर देने वाला चित्र है—

अंतिम शैया
हो तेरी छैयाँ
दैया निभादे प्रीत रे।

—त्रिभंगिमा

किन्तु मात्र इतना ही तो नहीं, अन्य ऐसी समस्याएँ भी तो हैं जो कवि को सोचने-विचारने के लिए विवश करती हैं। आज की अर्थ-महिमा की ओर संकेत करते हुए कवि कभी यथार्थ-स्थिति का चित्रण करता है तथा कभी व्यंग्य करता है। रुपया-अर्थ इतना महत्वपूर्ण क्या कभी था?

गांधी न नेता
जवाहर न नेता
नेता है सैयाँ रुपैया।
दुनिया न सच्ची
दीन न सच्चा
सच्चा है सैयाँ रुपैया।

—चार खेमे, चौंसठ खूँटे

जहाँ आधुनिक युग की अर्थ-पिपासा का विकृत स्वरूप है; वहीं कबीर जैसी रहस्यमयता भी। गाँव की गोरी न तो आधुनिक वैज्ञानिक विकास से पूरी तरह

परिचित है और न तो उसकी समझ में साँईं-गोसाईं का जीवन और ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त ही आता है। उसके प्रिय तो सूर और रत्नाकर की गोपियों का साकार प्रिय है, उद्धव के चिन्तन-दर्शन के काल्पनिक निराकार प्रियतम नहीं। जहाँ सूर की गोपियाँ स्पष्ट शब्दों में घोषित करती हैं—

ऊधो, मन नाहीं दस-बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम-संग, को आराधै ईस।

वहीं यह गाँव की गोरी भी तो साईं-गोसाईं, पोथी-धूनी के ज्ञान को अर्थ-हीन बताती हुई कहती है—

कहते हैं, दुनिया छोटी हुई
पिया नेड़े रहें तो मैं मानूँ
साईं भी आकर, गोसाईं भी आकर
धूनी रमाकर, पोथी सुनाकर
कहते हैं,
कहते हैं तुझमें तेरे पिया
पिया मेरे कहें तो मैं मानूँ।

—चार खेमे, चौंसठ खूँटे

यहाँ तक पहुँचकर, कवि का कबीर के—'साईं तेरा तुझ में ज्यों पुहुपन में बास' के प्रति विशेष विश्वासी हो उठना; मात्र लोक-जीवन में प्रचलित भावना-धारणा को ही प्रकट नहीं करता, वरन् यही भाव-भूमि जैसे उसके वृद्ध मन और शरीर की भी बनती जा रही है। संकलन की अन्य कविताएँ, 'मैं तो बहुत दिनों पर चेता' तथा 'प्रभु-मंदिर यह देह री' कवि की ऐसी ही मनःस्थिति का प्रकाशन करती हैं। यौवन के आवेग में, मात्र अपनी भुजाओं के भरोसे जीवन-संग्राम में जूझने वाला कवि उम्र के ढलते-ढलते उसी बिन्दु पर पहुँचता है, जहाँ एक बार प्रत्येक व्यक्ति की अन्तर्चेतना उसे पहुँचा देती है। इसीलिये लोक-धुनों पर आधारित रचनाओं में जहाँ कहीं भी किसी परोक्ष शक्ति की ओर संकेत मिलता है वह न तो अवांछित है और न ही परम्परावश। यह वह स्थिति है जब सब कुछ का कारण कोई अज्ञात, अगोचर शक्ति मालूम होने लगती है। मनुष्य की सामर्थ्य ही कितनी है? यद्यपि कवि को भी याद है, कि उसने अनेक बार दुःख और विपत्ति में विधाता को भी चुनौतियाँ दी हैं, उसके अस्तित्व तक से असहमति प्रकट की है—

माना कि दुःख है
विधना विमुख है

आओ उसे ललकारें।
पिया खोलो किवाड़
कोयल की गूँजी पुकारें।
—चार खेमे चौंसठ खूँटे

पर, अब वह चुनौती इतिहास भर रह गयी है। आज न तो वे पिछले बल-विश्वास ही शेष हैं और न तो वह आत्मशक्ति ही। अब तो कुछ भी कहलाने और कुछ भी कराने वाला कोई और है—"काम जो तुमने कराया कर गया, जो कुछ कहाया कह गया"—त्रिभंगिमा। इसीलिये कबीर की "माया ठगिनि हम जानी" की तरह बच्चन का कवि भी धीमर की घरनी को जाल बुनते देखकर कबीर की—"झीनी-झीनी बीनी चदरिया" तक पहुँच जाता है। यहीं यह भी स्मरण रखना होगा कि यह अवधि बच्चन के लिये आत्माभिमुख होने की नहीं है। अब तो कवि अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से बहुत ऊपर उठ चुका है। उसने तो स्वयं स्पष्ट कर दिया है—["अपने में ही सिकुड़ सिमट कर, जी लेने का बीता अवसर" त्रिभंगिमा] इसीलिये जहाँ उसका मन रहस्य की ओर उन्मुख होता है; किसी अज्ञात शक्ति के प्रभाव का अनुभव करने लगता है—

क्या फिर पट-परिवर्तन होगा ?
क्या फिर से तन कंचन होगा ?
क्या फिर अमरों-सा मन होगा ?
आस लगा रे।
चल बंजारे।
—चार खेमे चौंसठ खूँटे

और जब संसार का जीवन यही है, कि इसका अन्त अनिवार्य ही है फिर संसार के प्रति, भौतिकता के प्रति, इतना ऐसा मोह क्यों ? जब संसार की सारी वस्तुयें नश्वर और अचिरस्थायी ही हैं तो क्यों न उससे ही मोह करें, नेह करें जो इस अखिल ब्रह्माण्ड का नियामक और सर्जक है—

अपना कह कर हाथ लगाऊँ,
कैसा रखवारा! कहलाऊँ ?
जिसका सारा माल-मता है
उससे नाता जोड़ूँ रे।

अंगड़-खंगड़ मोह सभी से
क्या बांधूं, क्या छोड़ूं रे।
क्या लादूं, क्या छोड़ूं रे।

—चार खेमे चौंसठ खूंटे

इस प्रकार बच्चन की लोक-धुनों पर आधारित रचनाएं मात्र धुनों के प्रति कवि का आकर्षण प्रकट नहीं करतीं, वरन् इनकी चेतना लोक-गीतों की है तथा कहीं-कहीं आधुनिक-बोध के साथ कवि ने अपने निजत्व को भी इनकी भाव सम्पदा के रूप में व्यक्त होने दिया है। धुनों की विविधता और छन्द-ताल की विविधता के साथ अनुभूति और भावनाओं का वैविध्य भी इन गीत-रचनाओं का एक विशिष्ट पक्ष है।



प्रभु मन्दिर यह देह, री

नौ

मैं नहीं जानता, वह जीवन सरस होगा या नीरस, जिसमें आजीवन एकरसता ही हो किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूं कि ऐसा जीवन सृष्टि में शायद ही देखा गया हो। यदि होगा भी; तो वह सम्भवतः जीवन का सही रूप नहीं होगा।

जैसे काल परिवर्तन के साथ वचपन, यौवन और वृद्धावस्था का आगमन होता है। उसी प्रकार अवस्था-परिवर्तन के साथ मनोभावों में अनेक परिवर्तन लक्षित होने लगते हैं। इसीलिये जीवन की कोई भी एक परिभाषा न तो पूर्ण हो सकती है न यथार्थ।

बच्चन का काव्य यौवन का काव्य है—ऐसा प्रायः ही कहा जाता रहा है। यौवन की उद्दाम कामनाओं को प्रकृत रूप में व्यक्त करने वाला भी काल-पराजित हो जाता है, यह न तो आश्चर्यजनक है और न अस्वाभाविक। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह भी जीवन-परम्परा का एक सहज रूप है।

प्रारम्भ में मधु का गीत गाने वाला, यौवनानुकूल आचरण करने वाला जब नियति के अदृष्ट हाथों छला जाता है तो उसे स्वभावतः ही धर्माडम्बरों से अरुचि हो जाती है। यौवन के हाथों में इतनी शक्ति हुआ करती है कि वह हिमालय जैसे पर्वत को भी एक बार हिला देने की हौंस से भर उठता है। लेकिन नियति के कर यौवन की मादकता ही नहीं छीन लेते, यौवन को शक्तिहीन भी कर देते हैं। शिथिल चरणों, शिथिल बाहों को जब अपने आप पर भरोसा नहीं रह जाता तभी तीसरे हाथ की ओर दृष्टि उठती है, मन में विश्वास की बेलें अंकुआने लगती हैं और तब दृश्य जगत की नश्वरता का सही भान होने लगता है।

यदि ऐसा नहीं होता, तो अपनी यौवनावस्था के शोक-संतप्त दिनों में मंदिर-मस्जिद की निस्सारता घोषित करने वाले कवि में उन्हीं देव-स्थानों में निवास करने वाली परोक्ष सत्ता में अगाध श्रद्धा नहीं हो जाती। बच्चन ने ही तो कभी कहा था :—

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।
युद्ध क्षेत्र में दिखला भुजबल
रह कर अविजित, अविचल प्रतिपल,
मनुज पराजय के स्मारक हैं मठ, मस्जिद, गिरजाघर।
मिला नहीं जो स्वेद बहा कर,
निज लोहू से भीग-नहा कर,
वर्जित उसको, जिसे ध्यान है जग में कहलाये नर।
झुकी हुई अभिमानी गर्दन,
बँधे हाथ, नत-निष्प्रभ लोचन,
यह मनुष्य का चित्र नहीं है, पशु का है, रे कायर!
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर!

यों यह भी सत्य हो सकता हैं, सम्भव हो सकता है कि आज भी बच्चन के मानस में मन्दिर-मस्जिदों में निवास करने वाली मूर्ति में आस्था न हो और उन्हें वहाँ प्रचलित सभी कुछ केवल छलना ही लगता हो, भ्रम और भुलावा ही प्रतीत होता हो; किन्तु इतना सत्य है कि साधारण मन उन मन्दिरों में जिसे खोजता है; बच्चन को भी उसी की खोज है।

जीवन की आपा-धापी और रेल-पेल के सहारे अपने को निर्बन्ध छोड़ देने वाला भी अन्त में वहीं पहुँचता है जिसकी चर्चा अनादि काल से साहित्य और दर्शन शास्त्र में होती रही है। अपने अहम् का विसर्जन ही तो उन 'ढाई अक्षरों' के प्रति स्वयं को समर्पित कर देता है।

और बच्चन की इस आधुनिक भक्ति-भावना का उत्स खोजने पर मुझे यह लगता है कि जैसे एक शक्तिशाली जब चारों ओर से हार-थक कर आत्म-परीक्षण की स्थिति में पहुँचता है तो उसे यह भी अनुभव होना स्वाभाविक ही है कि उसके सामर्थ्य से अधिक क्षमता प्रकृति में है; उन अदृष्ट हाथों में है जिनके प्रति सृष्टि में आज भी आस्था की किरण ज्योतित है। बच्चन अपने यौवनारम्भ में पूर्ण मुक्ति, सर्वतंत्र स्वतंत्र मनोदशा के समर्थक हैं। आगे चल कर जब काल के कराल दंश जीवन-संगिनी का साथ भी नहीं रहने देते तो बच्चन नितान्त व्यक्तिवादी होकर अपने चारो ओर के विधि-विधानों सामाजिक और राजनीतिक विधानों, धार्मिक-विधानों की व्यर्थता सिद्ध करने का प्रयास करने लगते हैं, किन्तु यह स्थिति भी रे-धीरे दूर होती है और जीवन पुनः नये संगी की खोज में सफल होता है। ल लास और उन्माद की एक स्वर्णिम लहर 'निशा निमंत्रण', 'एकांत संगीत' तथा

'आकुल अन्तर' को भेदती हुई 'मिलन-यामिनी' को आलोकित कर देती है। पूर्व की भावनाएँ, बदल चाहे न जायँ किन्तु विस्मृत होने लगती हैं। यादों के खण्डहर पर नवीनता का नया प्रासाद निर्मित होने लगता है।

जीवन की गति ही तो है! समय चलता रहता है, मन और मनोभावों में भी विभिन्न प्रकार के परिवर्तन की लहरें उठती-गिरती रहती हैं और अन्त तक व्यक्ति, समाज, शासन, व्यवस्था से संघर्ष करने वाले चरण थकते-से जान पड़ते हैं। बच्चन के कवि को विश्वास हो जाता है कि प्रत्यक्ष-सीमा से अलग कोई महान् शक्तिशाली तत्व भी है जो परोक्ष होते हुये भी ध्यान करने वाले के लिए सहज विश्वास और आस्था का साधन है, कारण है। इसी विश्वास के सहारे तो 'अभिसार-क्षणों' की मोहकता, आनन्दोपलब्धि के गीत गाने वाले होंठ, जिन्होंने बड़ी ही आस्था से गुनगुनाया था—

बद्ध तुम्हारे भुजपाशों में,
और कहो क्या बंधन मानूँ
यह घन कुंतल राशि नहीं है
पर्दा है जग की आंखों पर,
अधरों पर मधु-बिंदु नहीं हैं
आया रस का सिंधु सिमट कर,
श्वास नहीं, प्रश्वास नहीं है
मलयानिल के भावुक झोंके,
पुलकित रोमों में सुख-मुखरित
तन की मिट्टी का मादक स्वर
नयनों की यह जोत नहीं है,
यह है स्वर्गों का आमंत्रण,
लुब्ध, मुग्ध, लवलीन तुम्हीं में
अब किसका आकर्षण मानूँ
और कहो क्या बन्धन मानूँ।

—मिलन यामिनी

किन्तु एक दिन घन कुंतल राशि जाल-सी लगने लगती है, भुजपाश प्राणों को बांधने वाले बन्धन ही प्रतीत होते हैं और श्वास-प्रश्वास से मिलने वाली मलयानिल की गंध भी व्यर्थ दीखने लगती है। कवि अपनी प्रियतमा से बड़े ही स्पष्ट शब्दों में निवेदन करता है:—

खैर, जीवन के
उतार-चढ़ाव हमने
पार कर डाले बहुत-से;
अंधकार, प्रकाश,
आँधी, बाढ़, वर्षा
साथ झेली;
काल के बीहड़ सफर में
एक दूजे को
सहारा और ढारस रहे।
लेकिन,
शिथिल चरणो,
अब हमें संकोच क्यों हो
मानने में
अब शिखर ऐसा
कि हम-तुम
एक दूजे को नहीं पर्याप्त,
कोई तीसरा ही
हाथ मेरा औ' तुम्हारा गहे।

—चार खेमे, चौंसठ खूँटे

इसी तीसरे हाथ की आवश्यकता प्रत्येक पराजित को हुआ करती है। यों 'पराजित' शब्द सभी के लिए; जिन्हें 'तीसरा हाथ' की खोज हो एक ही प्रकार का अर्थ नहीं रखता। पराजय न तो जीवन से पलायन है और न असमर्थता। पराजय 'देह धरे का दण्ड' भी हो सकता है। 'पराजय' के लिये हमारी; हजार-हजार वर्षों की दार्शनिक परम्परा भी तो कारण स्वरूप है?

जब 'तीसरे हाथ' की स्थिति का सही भान हो जाता है तो 'मैं' चाहे 'हम' बने, न बने, किन्तु तब 'मैं' का अर्थ ही लोप होने लगता है। जब 'मैं' ही नहीं तो 'मैं' द्वारा किए गए कार्यों-प्रयत्नों की सफलता क्या! यह सृष्टि जिसके द्वारा हुई है और सृष्टि का जो नियामक है, संचालक है उसी की प्रेरणा तो प्रत्येक जीवधारी का हाथ बन जाती है, पाँव और पुरुषार्थ बन जाती है, मन और मस्तिष्क बन जाती है? और तब जब चेतना को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं कुछ नहीं; मुझमें बैठा कोई और ही है जो मेरी हँसी और मेरे आँसुओं का कारण है, तब सम्भवतः

उसकी वाणी वही होती है जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न स्वरों में अलग-अलग आत्म-चेता जनों द्वारा हुई है ! जिसके लिए कबीर बार-बार संसार वालों को 'मूरख' कहते नहीं थकते कि 'अरे अब से भी चेत', उसी को तुलसी-सूर कुछ दूसरे प्रकार से प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं। उसी आत्म चेतना के लिए मनोरंजन प्रसाद सिंह का कवि भोजपुरी के माध्यम से शिथिल स्वरों में पुकार उठता है :—

ना जाने राम कवन होई गतिया।
प्राप्त विवेक बरावरे चेतावेला,
तब हूँ लुभावेले पाप के मूरतिया।
ना जाने राम कवन होई गतिया।

और जीवन में वह क्षण; सम्भवत अवश्य ही आता है जब प्रत्येक व्यक्ति को एक बार झकझोर-सा जाता है। बच्चन भी तो वही कहते हैं :—

मैं तो बहुत दिनों पर चेता।
श्रम कर ऊबा,
श्रम-कण डूबा,
सागर को खेना था मुझको, रहा शिखर को खेता।
थी मति मारी,
था भ्रम भारी,
ऊपर अंबर गर्दीला था, नीचे भंवर-लपेटा।
—चार खेमें, चौंसठ खूंटे

और चेत जाने पर तो यही लगने लगता है न कि "सब अंधियारा मिट गया दीपक-रेखा माँहि।" दीपक के उसी प्रकाश का जब सही साक्षात् होता है तो आत्म और परमात्म जैसे सभी आभासित हो उठते हैं। और तभी ऐसा बोध होता है कि अब तक किया गया सारा क्रिया-कलाप एक भ्रम था, किसी और द्वारा निदेशित था :—

काम जो तुमने कराया, कर गया;
जो कुछ कहाया, कह गया।

क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता; तो अपनेपन के अहं का विसर्जन नहीं होता और न तो यही बोध होता कि इस संसार रूपी नाट्यशाला में मेरा कार्य मात्र विदूषक जैसा ही बनकर रह गया है :—

मंच पर पहली दफा मुँह—
खोलते ही हंस पड़े सब लोग मुझपर,

क्या इसी के वास्ते तैयार
तुमने था किया मुझको, गुणागर ?
आखिरी यह दृश्य है, जिसमें
मुझे कुछ बोलना है, डोलना है,
और दर्शक हँस रहे हैं;
अब कहूँगा; थी मुझी में कुछ कमी जो,
मैं तुम्हारी नाट्यशाला में
विदूषक मात्र बन कर रह गया।
काम जो तुमने कराया, कर गया;
जो कुछ कहाया, कह गया।
—त्रिभंगिमा

बच्चन की विचारधारा का, इस परिवर्तित भावभूमि का उत्स खोजने पर लगता है कि बच्चन नास्तिक कभी नहीं रहे। साथ ही समर्थ विद्रोही बच्चन के कवि ने जब चारों दिशाएँ घूम लीं तो अंत में यही मिला कि भारतीय दार्शनिकों का अन्वेषण ही सत्य था जो जगत को मिथ्या मानते रहे। इसी धारणा के साथ एक प्रश्न भी उठता है कि क्या सचमुच बच्चन की यह नयी भक्ति-भावना किसी आन्तरिक बोध का परिणाम है और वहीं यह भी कि यह अध्यात्म-चेतना आखिर किस कोटि की है ?

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, निर्विवाद-सा है कि बच्चन सहज अनुभूतियों के साथ ही अपने जीवन-सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण रूपेण निष्ठावान रहे हैं। बच्चन ने कभी भी विषयों को लेकर कविताएँ नहीं लिखीं और अपनी इस प्रवृत्ति के लिए उन्हें अपने पाठकों तथा आलोचकों से स्नेह तथा उपेक्षा दोनों प्रकार की भेंट मिलती रही। यह अलग बात है कि कवि के विचार-सागर में डूब कर उसे थाहने—जाँचने का प्रयत्न भी नहीं के बराबर ही हुआ। यदि ऐसा नहीं होता तो सम्भवत: बच्चन की कविताओं को लेकर जो विभिन्न फतवे दिए गये थे, वे न दिए जाते। यद्यपि आज बहुत कुछ स्पष्ट हो चला है और कवि को समझने के स्वाभाविक मानदण्ड और अन्य यन्त्र भी हिन्दी समीक्षा की प्रयोगशाला में व्यवहृत होने लगे हैं।

इस प्रकार स्वत: सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति की निजी परिवेश-प्रेरणा ही उसकी विचार-धारा के निर्धारण का प्रमुख कारण हुआ करती है। सम्भवत: यही कारण था जिसने प्रेम की बाँसुरी बजाने वाले से गहन चिन्तन और आत्म-ज्ञान

युक्त 'गीता' का 'जनगीता' नाम से अवधी में अनुवाद कराया। सम्भवतः यही कारण था जिसने उक्त स्वामी जी महाराज के सम्मुख पहुँचने पर कुछ घड़ियों के लिए आत्म-विभोर की स्थिति में पहुँचा दिया और सम्भवतः यही कारण था जिसने स्वामी जी सम्बन्धी स्वप्न को भी—"तुम जो लिखते हो, उसका अर्थ तुम नहीं जानते। यह मैंने तुम्हारा स्वभाव कहा है। यानी तुम उपकरण हो—शंख हो, वीणा हो, फूंकने वाला, बजानेवाला दूसरा है। जो तुम स्वभाव से हो, उसके लिए सचेत रहो। तुम उपकरण मत बनो, बचाने वाला वचन तुमसे प्रतिध्वनित होगा ?"[1]—जीवन-दर्शन के उस बिन्दु पर पहुँचा दिया जो आगे चलकर जीवन-लक्ष्य बन गया। स्वामी जी की ही तो प्रेरणा थी कि हाला के गायक ने अपनी सीमाएँ स्वीकारते हुये घोषणा की :—

हाला-हालाहल दिहेउँ, हृदय-सिन्धु ते काढ़ि,

वचनामृत अब देत हौं, कछुक न एहिले बाढ़ि।

कोटि या स्तर की बात आने पर तुलना की समस्या भी उठ खड़ी होती है। जहाँ तक तुलनात्मक समीक्षा अथवा विश्लेषण का प्रश्न है बच्चन की अध्यात्मिक चेतना न तो कबीर के स्तर की है, न सूर के, न तुलसी के और न मीरा के; क्योंकि न तो बच्चन को भक्ति का वह चरम बोध ही है और न उनमें आत्म-विभोर कर देने वाली ज्ञान-ज्योति ही है। यही नहीं; न तो बच्चन के इन नये भक्ति-पदों में रमा लेने की वह विलक्षण शक्ति ही है जिसका उत्कृष्ट रूप उपर्युक्त कवियों में प्राप्त है। किन्तु तब भी बच्चन की यह नयी आत्मोपलब्धि उनके पाठकों के लिए मात्र कौतूहल का ही निमित्त नहीं बनती, वरन् स्वाभाविक और भारतीय जीवन चेतना, अध्यात्म परम्परा के अनुकूल लगती है। यद्यपि 'चौथेपन नृप कानन जाहीं' जैसी अनिवार्यता भी नहीं कि जीवन के पचास-पचपन वर्ष बीत जाने पर इस परमात्म भाव को तो जगना ही था, वरन् कवि की इस नूतन भावभूमि की रचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि लौकिक प्रेम का कवि ज्ञान और अनुभूति के विशेष बिन्दु पर पहुँच कर अलौकिक प्रेम का कवि भी हो सकता है। यह और बात है कि जितनी तन्मयता, जितना सहज आत्म-विश्लेषण भक्ति काल के कवियों में प्राप्त है वह बच्चन की रचनाओं में नहीं। जब सूरदास कहते हैं :—

किते दिन हरि-सुमिरन बिन खोए।
पर-निन्दा रसना के रस करि, केतिक जनम बिगोए।

१—'जनगीता' का मंगलाचरण पृष्ठ ग

काल बली तें सब जग कांप्यौ, ब्रह्मादिक हूँ रोए।
सूर अधम की कहौं कौन गति उदर भरे, परि सोए।

तो क्या ऐसा अनुभव नहीं होता कि कवि के हृदय में इतनी अपरिमित पीड़ा थी जिसे वह चाह कर भी शब्दों में बाँध न पाया? जीवन के कुछ ही दिन तो ऐसे बीते जिनमें भगवान का स्मरण नहीं किया था, फिर ऐसा क्या महा पाप हो गया? लेकिन नहीं; कवि को तो ऐसा बोध होता है जैसे उसने कितने ही जन्मों को, भौतिक आकर्षणों में उलझकर बिगाड़ दिया, मिटा दिया। इसीलिए तो वह अपने को परम अधम, नीचातिनीच मानने को तत्पर है।

और जब बच्चन का कवि भी चेतता है:—

मैं तो बहुत दिनों पर चेता।
श्रम कर ऊबा,
श्रम-कण डूबा,
सागर को खेना था मुझको, रहा शिखर को खेता।
थी मति मारी,
था भ्रम भारी,
ऊपर अंबर गर्दीला था, नीचे भँवर-लपेटा।
यह किसका स्वर?—
भीतर? बाहर?
कौन निराशा-कुंठित घड़ियों में मेरी सुधि लेता।
मत पछता रे,
खेता जा रे,
अंतिम क्षण में चेत जाय जो वह भी सत्वर चेता।
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।

—चार खेमें, चौंसठ खूंटे

तो सहज ही अंतर स्पष्ट हो जाता है। सूर की भक्ति-विह्वल चेतना अपने उन बीते दिनों की ही पीड़ा को नहीं भूल पाती जब कि उसने अपने प्रिय को स्मरण नहीं किया था, किन्तु बच्चन को इतने पर भी तोष है कि चलो चेत तो गया। भक्ति और आत्मानुभूति का यह अन्तर बच्चन और किसी भक्त कवि में सहज ही लक्षित हो जाता है। यहाँ तक कि जब महादेवी वर्मा भी:—

क्या पूजा क्या अर्चन रे।
उस विशाल का सुन्दर मंदिर
मेरा लघुतम जीवन रे।

गा उठती हैं तो उनका भी स्वर चाहे भक्ति की उस चरमावस्था का परिचय भले न दे किन्तु बड़ा ही सरल, स्वाभाविक और आत्म-तोष दायक लगता है। और इसी भाव की अभिव्यक्ति जब बच्चन द्वारा होती है :—

प्रभु मंदिर यह देह री।
क्षिति की क्षमता,
जल की समता,
पावक-दीपक जाग्रत-ज्योतित निशि-दिन प्रभु का नेह, री।
गगन असीमित,
पवन अलक्षित,
प्रभु-करुणा से पल-पल रक्षित यह पंचमहला गेह री।
अतिथि पधारो,
भाग्य सँवारो,
क्षण भर को कंचन छवि पाए चरण-बिछी यह खेह, री।
प्रभु-मंदिर यह देह, री।

—चार खेमें, चौंसठ खूँटे

तब भी चाहे यह भले लगे कि बच्चन का व्यक्ति-मन उतना आत्म विभोर, उतने उच्च स्तर का भक्त भले ही न हो किन्तु वह जो कुछ कहता है बड़ा ही मोहक, बड़ा ही सहज और बड़ा ही आकर्षक लगता है। बच्चन की इन, ऐसी कविताओं में जैसे भारतीय भक्तों-कवियों का चिंतन मुखरित है, यद्यपि स्वर और बोल नये हैं जो आधुनिक मानव-मन का स्पर्श बड़ी ही सुगमता से कर लेते हैं। क्या बच्चन की यह उपलब्धि उनकी परम्परागत आस्था को और अधिक दृढ़ नहीं बनाती, और अधिक प्रकाशित नहीं करती ?

और तभी ऐसा अनुभव होना स्वाभाविक है कि कारण चाहे कोई कुछ भी खोज निकाले, बच्चन का यह नवीन विराग-प्रधान स्वर उस सतत् संघर्षशील समर्थ व्यक्ति की अन्तस चेतना का प्रभाव-परिणाम है जिसने जीवन भर संघर्ष कर लेने के पश्चात् जान लिया है कि सारा भौतिक-जगत मात्र भुलावा है, निस्सार है। इस प्रवंचना तथा निस्सारता का अनुभव अपनी शक्ति आजमा लेने के पश्चात् होता है। जब अपनेपन का भरोसा कम होने लगता है, तभी तो उस

विशाल के प्रति आस्था जगने लगती है। समाज, धर्म, शासन और साहित्यिक मान्यताएँ सब कुछ का विरोध करने वाला भी तो अंत में खाली हाथ ही वहाँ पहुँचने की कामना करता है जहाँ पहुचने के लिए तपस्वी, वैरागी, ऋषियों और मुनियों ने सदा ही प्रयत्न किया है, प्रयास किया है :—

अपना कह कर हाथ लगाऊँ,
कैसा रखवारा कहलाऊँ?
जिसका सारा माल-मता है
उससे नाता जोड़ूँ रे।
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,
क्या बांधूँ, क्या छोड़ूँ रे।
क्या लादूँ, क्या छोड़ूँ रे।

☆☆

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता का राष्ट्रीय स्वर और बच्चन

दस

भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व हमारा एक लक्ष्य था, एक उद्देश्य था। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में किसी न किसी प्रकार स्वतन्त्रता का उद्‌घोष मिल ही जाता है। विशेषकर जब हम हिन्दी साहित्य का अवलोकन करते हैं तो लगता है स्वाधीनता की प्राप्ति का प्रयत्न प्रत्येक साहित्य-सेवी ने किया था, यद्यपि उस प्रयत्न की दिशा ऊपर से भिन्न हो, किन्तु मञ्जिल एक थी।

'वीर गाथा काल' के कुछेक कवियों की भाँति राष्ट्रभाषा के भी अनेक कवि ऐसे थे जिन्होंने विदेशी सत्ता को केवल शब्दों की चुनौती ही नहीं दी थी, अपितु कमर कस कर मैदाने जंग में कूद पड़े थे। कारागार की यातनाएँ सही थीं और उन सारे दमन-प्रयत्नों के उत्तर में मुस्कुरा दिया था।

ऐसे युगचेता कवियों की संख्या यद्यपि बहुत बड़ी है, फिर भी जो विशेष प्रतिष्ठा के पात्र हैं उनमें राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० माखन लाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा', पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' तथा पं० सोहनलाल द्विवेदी का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। इन रचनाकारों के अतिरिक्त भी डा० सुमन, डा० सुधीन्द्र प्रभृति अनेक नाम हैं जिन्होंने किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय चेतना का परिचय दिया था।

वह एक ऐसा युग था जब राष्ट्रीयता की भावना विपत्तियों और शासकीय क्रोध के लिए आमन्त्रण थी। फिर भी हमारे वरेण्य कवियों ने अपनी महाभूमि को दासता-मुक्त करने के लिए शासन की सारी कुचेष्टाओं और प्रताड़नाओं को अंगीकार किया, होठों पर गीत थिरकते रहे और हृदय में स्वाधीनता की आग प्रज्वलित होती रही। जहाँ राष्ट्र कवि ने कहा :—

हम कौन थे, क्या हो गये,
अब और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर,
ये समस्यायें सभी॥

इससे केवल सहज परामर्श की ही भावना व्यञ्जित नहीं होती, बल्कि यह कि- ऐ भारत वर्ष के नागरिको! जिस स्वर्णिम अतीत की आधार-भित्ति पर तुम विश्व के किसी भी उन्नत राष्ट्र के सम्मुख अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक उपलब्धियों को लेकर स्वाभिमान से सिर ऊँचा कर सकते थे, आज तुम उसके योग्य उत्तराधिकारी भी नहीं रहे। आगे तुम अवनति के किस अतल गर्त में गिरने जा रहे हो इस पर एक बार विचार तो करते! यानी यदि इन समस्याओं पर विचार नहीं किया तो सम्भवतः तुम्हारा स्वत्व ही शेष न बचे।

जहाँ राष्ट्र कवि ने उपर्युक्त पंक्तियाँ कहीं, पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने अल्हड़ स्वरों में गुनगुनाया :—

चाह नहीं मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं प्रेमी-माला में
बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं सम्राटों के शव
पर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं देवों के सिर पर
चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।

पता नहीं कितने हृदयों में इस अभिलाषा ने अपने देश, जाति और समाज के लिये मर-मिटने की प्रेरणा भरी होगी? पता नहीं कितने दीवानों ने इन पंक्तियों को वेद-मंत्रों जैसा अहर्निश गाया-गुनगुनाया होगा? आज भी बीती स्मृतियाँ रोमांचित कर जाती हैं।

इन्हीं स्वरों के साथ कुछ बड़े ही स्पष्ट, ओजयुक्त और मार्मिक स्वर थे जिनकी छुवन किसी भी सहृदय को पागल बना देने के लिए काफी थी। ये स्वर थे

गम्भीर और तुमुल और स्वरकार थे दिनकर, नवीन तथा सोहन लाल द्विवेदी। जहाँ नवीन ने आह्वान किया :—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जग में उथल-पुथल मच जाये
एक हिलोर इधर से आये
एक हिलोर उधर से आये

वहीं दिनकर का कवि भी प्रथमतः हिमालय को सम्बोधित कर अपने अतीत का स्मरण करता है। उसका हिमालय मात्र निर्जीव पर्वतराज नहीं; वरन् पूरे आर्यावर्त का प्रतीक है। यही वह गिरिराज है जिसके आँगन में प्रथम-प्रथम बार सभ्यता और ज्ञान की किरणों से ऊषा ने जिसका स्वागत किया था। इसी नगाधिराज को संबोधित कर कवि ने शंख-ध्वनि की थी :—

मेरे नगपति, मेरे विशाल!
साकार दिव्य गौरव विराट!
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल

इसी अचलाधिराज ने तो देखी थी उस असहाया द्रौपदी की दुर्दशा और सुना था उसका करुण विलाप। वह करुणा विगलित ध्वनि जिसने कृष्ण जैसे योगिराज की भी साधना भंग कर दी थी, उन्हें उस अबला की लाज रक्षा के लिए स्वयं योजना बनानी पड़ी थी। परन्तु पराधीनता के पूर्व जब कवि ने क्षोभ और निराशा भरे स्वरों में गाया था :—

कितनी मणियाँ लुट गईं—
मिटा कितना मेरा वैभव अशेष
तू ध्यान मग्न ही रहा, इधर-
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश
कितनी द्रुपदा के बाल खुले
कितनी कलियों का अन्त हुआ?
कह हृदय खोल चित्तौड़ यहाँ
कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ?

× ×

तू पूछ अवध से राम कहाँ ?
वृन्दा बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध, कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी
तू पूछ कहाँ इसने खोयीं
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ?

इसी प्रकार कवि गौतम बुद्ध, विद्यापति प्रभृति का स्मरण कर देश के नागरिकों को महिमामय प्राचीन की ओर उन्मुख कर उनमें अपने पूर्वजों का-सा पौरुष और त्याग भरना चाहता है। उसकी स्वाधीनता के प्रति दुर्दमनीय आस्था गाँधी की अहिंसा और उस महात्मा की अमोघ-शक्ति की भी अवहेलना करने को बाध्य करती है—

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दो उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर

लेकिन अर्जुन और भीम को अपने बीच न पाकर वह भी कातर स्वरों में प्रलयंकर को याद करता है :—

कह दे शंकर से आज करें वे
प्रलय नृत्य फिर एक बार
सारे भारत में गूँज उठे
हर-हर बम का फिर महोच्चार

इस प्रकार उस पूरे युग की ही पुकार थी :—

हों जहाँ बलि-शीश अगणित
एक सिर मेरा मिला लो।

—सोहन लाल द्विवेदी

और सौभाग्य या दुर्भाग्यवश आर्यावर्त को दो टुकड़ों में बाँटा गया और आज के महत्वाकांक्षी एवं स्वार्थ-लोलुप विश्व में बुद्ध और ईसा की प्रतिमूर्ति जैसे महात्मा गांधी, नेता की हत्या के बाद हमें स्वाधीनता मिल गई। हमारे स्वप्नों को

पंख मिल गये, कल्पनाओं को एक आकार मिल गया। लेकिन क्या स्वतन्त्रता के लिए हमने जितनी आहुतियां दी थीं, जितना होम किया था, उन बलिदानों का प्रतिफल हमारे देश के लिए सुख और समृद्धपूर्ण हुआ? क्या राजनीतिक स्वतन्त्रता ने सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, नैतिक सभी क्षेत्रों में हमारे विकास का पथ प्रशस्त किया है? क्या हम आज भी कुछ पराधीनता युग की ही स्थितियों का सामना नहीं कर रहे हैं? क्या आज भी देश का भाग्य मुट्ठी भर धनिकों के हाथ में नहीं है? क्या आज नैतिकता का कोई स्तर रह गया है? हत्या, लूट, चोरी, चोरबाजारी और घूसखोरी आये दिन की घटनाएं नहीं हो गई हैं? क्या यह देश पिछले कई सौ वर्षों में नैतिक दृष्टि से इतना पतित कभी हुआ था?

यद्यपि हम स्वाधीन हैं और दुनिया के कुछ विशिष्ट राष्ट्रों में हमारी गणना है। आज भी गांधी की सत्य-अहिंसा का प्रकाश हमारा मार्ग प्रशस्त कर रहा है और आज के संघर्षमय विश्व में सम्भवतः अहिंसा की यही नीति हमारे लिए अवर्णनीय महिमा का हेतु बनी हुई है। फिर भी क्या हम आंतरिक रूप में कहीं से भी आत्म निर्भर और समर्थ बन सके हैं? धार्मिक सहिष्णुता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और वैयक्तिक स्वतंत्रता जैसे प्रिय शब्द क्या हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके हैं? क्या रोटी, वस्त्र और आवास की विभुक्षा की ज्वाला देश की आधी से अधिक आबादी के लिये सिर दर्द का कारण नहीं बनी हुई हैं?

यह प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति मानता है कि स्वतंत्रता से मिलने वाली आधी रोटी भी पराधीनता के सुस्वादु व्यंजनों से ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। फिर भी जब कविता आकुल अंतर कह उठता है :—

यदपि देश स्वाधीन हो गया—
हम किसान - मजदूर
दिल्ली में ही पूछ रहे हैं—
दिल्ली कितनी दूर

—रामसिंहासन सहाय 'मधुर'

या—

"मंदिर में प्रसाद जितना था सब खा गये पुजारी"

—मोती बी० ए०

तो पता नहीं क्यों मर्म को एक चोट सी लगती है, मस्तिष्क को एक झटका-सा लगता है। इस लिए आज हमें राष्ट्रीयता का नारा नहीं बदलना है, वरन् बदलनी है राष्ट्रीयता की परिभाषा।

स्वतंत्रता के पूर्व विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए देश के कोष-केन्द्रों (खजानों) पर डाका डालना भी मातृभूमि की सेवा करना था। हँसते-हँसते सलीब पर लटक जाना भी देश की भावी पीढ़ी को राष्ट्रीयता का सबक सिखाना था। किन्तु आज परिस्थितियाँ और हैं, चिंतन प्रक्रियायें और हैं तथा और ही हैं समाधान के साधन।

राजनीति ने आज हमारे जीवन के विविध क्षेत्रों को प्रभावित कर रखा है। इसलिए स्वातंन्योत्तर स्थितियों के यथार्थ चित्रण को भी 'वाद' की संकुचित सीमाओं में घेर कर चित्रणकर्त्ता के सारे भावना-विचारों को क्षण भर में झुठला दिया जाता है। दोष केवल स्वार्थ-लोलुप नेताओं और सरकारी कुर्सियों का ही नहीं है। कुछ लोग (साम्यवादी जिसमें विशेष बदनाम हैं), मात्र आलोचना और किसी भी सरकारी प्रयास की भर्त्सना को ही पार्टी का लक्ष्य मानते हैं। लेकिन जब ऐसे प्रबुद्ध जन जिनका सम्बन्ध किसी भी राजनीतिक संस्था से नहीं है, वे भी जब सरकारी प्रयासों, योजनाओं के मूल में वास्तविकता से अधिक प्रचार की प्रवृत्ति ही पाते हैं तो क्या देश का नागरिक इन सबको भी भुला दे?

आज की राष्ट्रीयता है राष्ट्र के यथार्थ जीवन से देश को परिचित कराना तथा कमियों को दूर करने का उपाय बतलाना। आज की राष्ट्रीयता है समग्र देश की सांस्कृतिक, आर्थिक सामाजिक, नैतिक स्थितियों का वर्णन और इनके स्तर को ऊँचा कर विश्व के सम्मुख एक आदर्श राष्ट्र का उदाहरण प्रस्तुत करना और जब इस दृष्टि से आज के जीवन को देखा जाता है। तो क्षोभ और घृणा होती हैं राष्ट्रीय कहलाने वाले कवियों से। जब इनके दिल में आग थी, तब दिमाग भी राष्ट्रीयता की उच्च भावना से परिपूर्ण था। देश की स्वाधीनता के लिए दूसरों के साथ शहीद होने की इनमें भी हौंस थी :—

हों जहाँ बलि शीश अगणित
एक सिर मेरा मिला लो।

—सोहनलाल द्विवेदी

इसी प्रकार 'हिमालय' को सम्बोधित कर 'दिनकर' ने उद्घोष किया था :—

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रांत
सीमापति, तूने की पुकार
पददलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार

लेकिन उसी पुण्यभूमि पर आक्रमण कर जब चीन ने देश का बहुत बड़ा भाग अपनी सीमा में मिला लिया। तब पता नहीं उनकी पुरानी भावना ही अन्तर में नहीं बची रही, अथवा उन्होंने भी अपने को युग-नायक के स्थान पर मान्य 'नेता' ही मान लिया। उस दिन तो बड़ा हो हल्ला किया था :—

उस पुण्य भूमि पर आज तपी,
रे आन पड़ा संकट कराल
—दिनकर

और जब फिर संकट पड़ा तो दिनकर ने अपने को दिल्ली के रेशमी नगर का नेता भर कह कर संतोष कर लिया :—

हो गया एक नेता मैं भी तो बन्धु सुनो
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूँ

और राष्ट्रकवि? बेचारे वृद्ध को तो अब कभी कविता का 'मूड' भी चराता है तो देश की जनता स्मरण नहीं आती, बजट का अधिवेशन ही सबसे बड़ा विषय होता है। पहले चिरगांव था तो देश था, अब दिल्ली का नार्थ एवेन्यू है, तो बजट है। कुछ कवियों जैसे सोहन लाल द्विवेदी, गोपाल सिंह नेपाली, नीरज प्रभृति ने समसामयिक विषयों पर छिट-पुट लिखा है अवश्य, किन्तु जिस एक कवि के एक संग्रह की कतिपय रचनाएँ देश की समग्र वस्तुस्थिति का तथ्या-तथ्य चित्रण करती है वह कवि हैं बच्चन और रचनाएँ हैं, 'त्रिभंगिमा' की अन्तिम कविताएँ।

लेकिन क्या बच्चन का यह स्वर आकस्मिक है? अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में कोकिल को संबोधित कर कवि ने उससे पूछा था :—

कोकिले! पर यह तेरा राग
हमारे नग्न-बुभुक्षित देश
के लिए लाया क्या संदेश?
साथ प्रकृति के बदलेगा
इस दीन देश का भाग्य?
(—प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग एक)

परन्तु जैसा कि बच्चन ने वैयक्तिक सुख-दुख को ही एक लम्बे काल तक काव्य का विषय मान लिया था, कुछ परिस्थितियाँ भी वैसी थीं। इसलिए कवि ने बड़ी ईमानदारी से स्पष्ट कर दिया था :—

कल सुधारूँगा हुई संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल

—सतरंगिनी

और सचमुच बच्चन की 'कल' की कविता से सिद्ध होने लगा था कि समय आने पर यह कवि अपने कर्त्तव्य से चूकेगा नहीं। बंगाल के दुर्भिक्ष और गांधी-हत्या पर लिखी गई रचनाएं कवि की युग-चेतना के प्रति आस्था को पूर्णरूपेण प्रकट करती है। आज जब वह अपनी उदासी का कारण व्यक्त करता है तो अनायास उसके प्रति, उसकी भावना के प्रति केवल करुणा ही उत्पन्न नहीं होती युग की प्रवंचना के प्रति क्षोभ भी उमड़ पड़ता है :—

अकारण ही मैं नहीं उदास।
अपने में ही सिकुड़-सिमट कर
जी लेने का बीता अवसर,
जब अपना सुख-दुख था अपना
ही उछाह-उच्छ्वास।
अब अपनी सीमा में बँध कर
देश-काल से बचना दुष्कर,
यह सम्भव था कभी नहीं,
पर सम्भव था विश्वास।

क्योंकि :—

एक सुनहले चित्र-पटल पर
दाग लगाने में है तत्पर
अपने उच्छृङ्खल हाथों
से उत्पाती इतिहास।

और :—

अनदेखा, अनसुना किए सब,
कोई नेता—संत नहीं अब,
दुर्वासा के स्वर में गरजे,
'अरे, ठहर बदमाश'।
अकारण ही मैं नहीं उदास।

क्योंकि यही नहीं कि कवि को कोई भी नेता संत नहीं दीखता वरन् यह भी कि :—

लेकिन युग जब तमसावृत हो,
तब क्यों विकल न कवि का चित हो,
विफल जब कि रवि, शशि,
तारक-दल, दीपक, राग रहा हो
मेरे युग के दीप कहाँ हो ?

बच्चन की इन सम्पूर्ण कविताओं को सम्यक परिचय के लिए सुविधानुसार कुछ शिर्षकों में विभक्त कर देखा जा सकता है :—

राजनीतिक—स्वतंत्रता का युद्ध भी राजनीतिक ही था। युद्ध सर्वदा बाहर से राजनीतिक ही दीखता है, किन्तु भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध राजनीतिक से अधिक नैतिक था। युद्ध में भी नैतिक और सद्संस्कारों का परिचय देने की प्रवृत्ति भारतीय ही रही है। परन्तु क्या इस उपलब्धि के पश्चात् भारतीय जनता का भाग्य बदला है ? गणतंत्र दिवस पर कवि राजधानी (दिल्ली) के निकट एक ग्राम में जाता है। एक ओर तो उसकी आँखों में राजधानी के दृश्य हैं और दूसरी ओर वह 'गण' के एक ग्राम को देखता है, ग्रामीणों को देखता है, उसे बड़ा ही दुख और पश्चाताप होता है जब उसे ज्ञात होता है :—

आज चार हजार
साढ़े तीन सौ से तीस ऊपर
दिवस बीते रेंगते
संदेश, पर गणतंत्र दिन का
बीस मील नहीं गया है।

—गणतंत्र दिवस

और इसीलिए कि 'गण' के इन ग्रामीणों को अपनी वास्तविकता का भान हो, उन्हें अपने 'वोट' का मूल्य ज्ञात हो और उनके भीतर असंतोष की चिनगारी जगे, कि आखिर उनके ही देश में रहनेवालों के जीवन-स्तर में इतना विभेद क्यों है ? वह कुछ को अपने साथ दिल्ली दिखाने लाता है :—

आज दिल्ली देख लक-दक
आँख कुछ इनकी खुलेगी
असंतोष कहीं जागेगा,
कहीं चिनगारी उठेगी,
जो सजी बारात

उसका कौन दूल्हा ?—
राज यह
इन पर खुलेगा।

—गणतंत्र दिवस

और जब कवि उन ग्रामीणों को वापस घर पहुँचा कर लौटने लगता है तो एक वृद्ध बड़ी सरलता से कहता है :—

'बड़ी किरपा की कि जीते जी
हमें बैकुण्ठ का दर्सन कराया
हमें नरक'निवासियों को।'

तब क्या पुनः कवि मधुर की ये पंक्तियाँ याद नहीं आ जातीं।

"दिल्ली में ही पूछ रहे हैं
दिल्ली कितनी दूर।"

इसी प्रकार शहीदों के परिवार वालों को भूखे पेट मरते तथा चापलूस और अंग्रेजी सत्ता के लोलुप दलालों को मौज उड़ाते देख कवि अपनी अन्तर्लीन ज्वाला को दबा नहीं पाता। उसे समुद्र-मंथन का रूपक कितना उपयुक्त लगता है, जब दानवों को सारे प्रयत्न के बावजूद भी प्राप्ति के नाम पर उपेक्षा और घृणा ही मिली, दुत्कार ही उनके बाँटे आया। जबकि उनके सहयोग के बिना शायद मंथन-क्रिया पूरी ही नहीं होती। तो कवि सोचता है कि उन्हीं दानवों ने शाप दिया था कि आगे भी जब कभी इस प्रकार की मंथन-क्रिया (कोई महान कार्य) होगी तो दानव केवल चिल्लायेंगे, 'जिन्दाबाद' के नारे लगायेंगे और जो भी अमृत निकलेगा उसे चटकर जायेंगे। स्वतन्त्रता का विगत युद्ध भी तो समुद्र-मंथन की ही भाँति था। जिनमें अनेक देवता फाँसी के तख्ते पर झूल गये, अनेक ने कारागार को ही अन्तिम शैया मान ली और जो संघर्ष के पश्चात् बचे रहे उन्होंने 'बँटवारे' की हाँव-हाँव, कच-कच से ऊबकर संन्यास ले लिया। दानवों ने यही तो कहा था :—

सृष्टि यदि चलती रही तो
अमृत-मंथन की जरूरत
फिर पड़ेगी।
और मन्थन—
वह अमृत के

जिस किसी भी रूप को खातिर
किया जाए—
बिना दो देव-दानव पक्ष के
संभव न होगा।
किन्तु अब से
मन्दराचल मूल का
वह कठिन, ठोस, स्थूल, भारी
भाग देवों की
कमर पर
पीठ-कंधों पर पड़ेगा,
और दानव शिखर थामे
शोर भर करते रहेंगे
'अमृत जिन्दाबाद, जिन्दा—।'
खास उनमें
अमृत पर व्याख्यान देंगे।
और मन्थन-काल में भी
देवता गण सर्प का मुख-भाग
पकड़ेंगे,
फनों की चोट खायेंगे,
जहर की फूँक घूटेंगे,
मगर दल-दानवों के
साँप की बस दुम हिलाएँगे
अमृत जब प्राप्त होगा
वे अकेले चाट जाएँगे।

और उन्हीं दानवों का शोर आज आगे उतरा है :—

यह विगत संघर्ष भी तो
सिन्धु-मन्थन की तरह था।
जानता मैं हूँ कि तुमने भार ढोया,
कष्ट झेला,
आपदाएँ सहीं
कितना जहर घूँटा।

पर तुम्हारा हाथ छूंछा।
देवता जो एक—
दो बूंदें अमृत की
पान करने को, पिलाने को चला था,
बलि हुआ।
लेकिन जिन्होंने
शोर आगे से मचाया,
पूंछ पीछे से हिलाई,
वही खीस-निपोर,
काम-छिछोर दानव
सिन्धु के सब रत्न-धन को
आज चुनकर भोगते हैं।

विकास योजनाएँ

जब कवि देखता है कि विविध योजनाओं का शोर तो बहुत है मगर प्राप्ति के नाम पर हाथ में कुछ नहीं आता तो वह बड़ा ही सटीक व्यंग्य करता है। संकलन की 'खजूर' शीर्षक कविता अपने व्यंग्य के सारे गुणों से युक्त और इतनी तीखी है कि पाठक का मन अनायास ही तिलमिला उठता है। वनमहोत्सव के नाम पर क्या-क्या नहीं हुआ। नेताजी ने चांदी के फावड़े से वृक्षारोपण के लिए जमीन खोदी, दो-एक फावड़े चलाए। सभी सम्भव कोणों से नेताजी के चिगनू-मिगनू के साथ उनका फोटू उतारा गया और फिर वह चित्र और फावड़ा मन्त्री महोदय के दर्शक भवन में सुशोभित हुआ। लेकिन जब कवि (दर्शक) इन योजनाओं, क्रियाओं की उपलब्धि की जाँच करता है तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता—

आम, पीपल, नीम, जामुन, बट वगैरह
थे लगाए गए लेकिन,
भूमि आज खजूर-धर्मी हो गई है।
कहीं कुछ बीजो, लगाओ—
बहुत कुछ बीजा, लगाया जा रहा है—
समय पाकर वह
प्रलंब खजूर में ही बदल जाता
भूमि भूला, गगन से नाता बनाता।

और जहाँ तक फल का प्रश्न है :—

यह प्रलंबासुर
अदृश्य भुजा उठाकर
बीच में ही लोक लेता,
लोक अपने स्वत्व से
वंचित, बुभुक्षित,
हाथ वामन के गगन में मारता
पर कुछ न उसके हाथ आता।

और :—

और इस अंधेर पर, इस दुर्दशा पर
देश, युग, इतिहास, नीति प्रबुद्ध, ज्ञानी
सिर हिला संकेत करते,
यह प्रलंबासुर मरेगा
जब कि शक्ति समेत हलधर जन्म लेंगे।

मुझे हलधर का भावार्थ करने की आवश्यकता नहीं है और न 'युग की और अनेक विकृतियों' का गिनाना ही लक्ष्य है।

सामाजिक—सामाजिक कलह, कटुता और द्वेष-वृत्ति को फलते-फूलते तथा स्वार्थ-पंक में सने देश के सभ्य नागरिकों को देखकर कवि के साथ किस बुद्धिमान को अपनी स्थिति पर तरस नहीं आयेगी। जब वह जानता है कि स्वार्थ और अर्थशास्त्र ही आज के शिक्षितवर्ग की सीमाएँ निश्चित करते हैं। ऐसे अनेक परिचित अनेक स्थलों पर एक दूसरे से मिलते हैं लेकिन :—

एक आता है इधर से,
एक जाता है इधर से,
पास होकर निकल जाते
किन्तु ऐसी ध्यान-मुद्रा हैं बनाते
कौन निकला पास से इनको पता क्या।

—इन्सान और कुत्ते

लेकिन जब इन्हीं भारतीय साहबों के कुत्ते एक दूसरे को देखते हैं 'तो उत्साह से भर ही नहीं उठते, उछलकर, अपने-अपने साहबों की अवहेलना कर क्षणभर के लिए

मिल जाते हैं। उनकी जातीय-प्रियता उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति से मुक्त करा देती है। वे एक दूसरे को दंड-प्रणाम करते हैं, कुशल-क्षेम पूछते हैं :—

हाल कहते-पूछते
घर में कुशल सब ?
बाल-बच्चे तो मजे में ?
शाम खाना क्या मिला था ?
रात खटका तो नहीं ज्यादा हुआ था ?
और झगड़ा तो नहीं कोई ठना था
बीच मालिक-मालकिन के ?
नौकरों के बीच खटपट तो नहीं थी ?

लेकिन इसी बीच दो दिशाओं से दोनों साहबों की आवाजें हवा में गूँज उठती हैं :—

'कम हियर यू डैम ह्विस्की।'
'कम हियर यू डेविल फ्रिस्की।'

और यहीं कवि इन भारतीय अंग्रेजियत के पुजारियों की ।भाषा पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकता :—

(श्वान भी तो मानता है, रोब अंग्रेजी जबाँ का)

फिर तो ह्विस्की और फ्रिस्की बिना इस बात को जाने-समझे कि मालिक हमारी किस गलती पर हमें कोस रहे हैं, एक दूसरे के पास से भाग जाते हैं। लेकिन दो कुत्तों का मिलना भी इन इन्सानतुमा जानवरों को कोई प्रेरणा नहीं देता :—

ओ, नहीं इन बेहयाओं को अखरती,
श्वान की यह श्वानियत
इंसान की इंसानियत पर व्यंग्य करती।

नैतिक—स्वतंत्रता के बाद तो देश की नैतिकता का स्तर कितना ऊंचा हुआ है इससे कौन अनभिज्ञ है ? और तो और जिस महात्मा ने पहली बार विश्व के इतिहास में कुछ ऐसा कर दिखाया जिसको सुन और सोचकर सारा पश्चिम आश्चर्य करता हो कि भारत वर्ष ही एकमात्र देश है जहाँ नैतिकता और मानवीय संवेदना-शक्ति के आधार पर स्वतंत्रता प्राप्त की गई। जिस महात्मा के चमत्कारों से दुनिया के लिए हम श्रद्धा-भाजन बने हुये हैं। उसी गांधी की यथार्थ स्थिति हमारे बीच क्या है :—

गांधी :—स्वार्थ परता, क्षुद्रता, संकीर्णता की
उत्तदायी आंधियों में,
डोलती, डिगती, उखड़ती,
ध्वस्त होती, अस्त होती,
आस्थाओं, मान्यताओं में
अटल आदर्श की चट्टान पर
जगती हुई लौ का
करुण उच्छ्वास।

गांधी :—बुत पत्थरों का, मूक
मिट्टीका खिलौना,
रंग-बिरंगा चित्र,
छुट्टी का दिवस,
देशान्तरों में पुस्तकालय को
समर्पित किए जाने के लिए
सरकार द्वारा
आर्ट पेपर पर, प्रकाशित
राष्ट्र का इतिहास

क्या इससे अधिक नैतिक पतन सम्भव है? टूटी और विकृत मूर्तियां आज श्रद्धा और भक्ति से ड्राइङ्ग रूमों में नहीं सजाई जातीं वरन् ये टूटी-फूटी प्राचीन मूर्तियां आज प्रसाधन के उपकरण मात्र ही रह गई हैं :—

भग्न-खंडित मूर्तियों से
लोग ड्राइंगरूम अपना हैं सजाते,
कला-प्रियता सभ्यता का अंग है अब
इस तरह अपनी कला-प्रियता जनाते,
कीमतें अच्छी चुकाते,
बुत-फरोशी एक पेशा बन गया है
+ + +
मूर्ति के सिद्धान्त को अब
पूछता या पूजता कोई नहीं है

मगर यह भी नहीं कि ऐसी मूर्तियों के खोजी उन्हें खोज लाते हैं बल्कि यह कि नैतिकता का स्तर ही तो है कि कुछ वेचक भली-चंगी पुरानी मूर्तियों को कहीं से

उड़ा कर उन्हें तोड़ डालते हैं और ऐसे बुत-फरोशों के पास पहुँचा देते हैं जो सभ्य कहलाने या कहलाने की इच्छा रखनेवाले बाबुओं से अधिक से अधिक पैसे उगाह लें।

और यही नहीं, जीवन की विविध दिशाओं को स्नेह और संवेदना देता हुआ भी बच्चन का कवि अपने युग के प्रति पूर्ण सचेत है। देश और समाज की ऐसी परिस्थिति में केवल वह चीन के आक्रमकों को चेतावनी ही नहीं देता। प्रथम अपने देश के शौर्य और परम्परा का वर्णन कर उद्धतों की उच्छृंखलता को क्षमा कर देने की भी प्रतिज्ञा करता है, बशर्ते वे अज्ञानवश इधर बढ़ आये हों और नहीं तो अपनी परम्परा से उन्हें परिचित कराने का प्रयास करता है; ताकि समय उसे ऐसा न कहे कि भारत ने ही शीघ्रता की :—

अमरनाथ-गौरीशंकर-कैलाश विचुंबित
वे भारतमाता के कंधों पर अवलंबित
उसकी अलकें, नाग लटें हैं, वेणी-चोटी,
जो कि हमारी, जीवित संस्कृत परंपरा में
नारी के गौरव के
सबसे शीर्ष चिन्ह हैं।
जिनकी लाज बचाने को,
इज्जत रखने को,
मूल्य बड़ा से बड़ा
चुकाने को हम उद्यत
(फिर चालीस कोटि की माँ की भव्य लटों की)
तूने आज इन्हीं को छेड़ा है,
खींचा है,
किसी नशे में तू अपने से
बाहर चला गया है,
संयम इसीलिय हम
साध रहे हैं।

वरन् तुझे नहीं मालूम कि आर्यावर्त की परम्परा क्या रही है :—

जब नारी के बालों को छेड़ा जाता है,
धर्मराज का हिंसासन डोला करता है,

क्रुद्ध भीम के बाहु फड़कते,
वज्रनाथ मणिपुष्पक औ' सुघोष करते हैं
गांडीव की प्रत्यंचा कड़का करती हैं
कहने का तात्पर्य,
महाभारत होता है।

यही नहीं, जब कभी ऐसी थोथी ममता, दुर्बलता, किंकर्तव्यमूढ़ता का साम्राज्य बढ़ता है तो—

स्वयं कृष्ण भगवान प्रकट हो
असंदिग्ध औ' स्वतः सिद्ध
वाणी में कहते,
'उत्तिष्ठ युध्यस्व भारत !'

और जब बच्चन की उपर्युक्त भावनाओं की परीक्षा की ओर पाठक का मन जाता है तो अनायास वह जहाँ बच्चन की समसामयिक युग चेतनता के लिए उनके प्रति श्रद्धालु हो जाता है, वहीं उसका मन अपने देश के उन तथाकथित राष्ट्रीय कवियों की भर्त्सना करने से भी बाज नहीं आता, जिनसे देश ने कभी यही उम्मीद की थी कि वे समय-समय पर देश की जनता को भावी विपत्तियों और आशंकाओं की ओर से सचेत किया करेंगे। जब हम आज उन राष्ट्रीय कवियों में से अनेक को संसद और राज्य सभाओं के सम्माननीय सदस्य के रूप में पाते हैं तो यही लगता है कि इनके भीतर की राष्ट्रीय चेतना-अग्नि स्वार्थ की राख के नीचे दब गई है, वरन् अपने प्राचीन इतिहास के स्वर्णिम गौरव पर रोनेवाले आज भी देश को उसी प्रकार की स्थितियों में पा कर काम और आध्यात्म की चिरन्तनता का उद्घोष नहीं करते। न तो उर्वशी का सौन्दर्य ही उन्हें मोहता और न बजट की उपयुक्तता ही आकर्षित करती। बहुत सम्भव है उन्हें वह सब दिखाई ही न देता हो, वह सब सुनाई ही न पड़ता हो, जिसे बच्चन की आँखें देख लेती हैं और जिसे उनके कान सुन हैं और तब जब बच्चन इन कवियों से अधिक सरकारी चंगुल में हैं, बल्कि सरकारी चाकरी ही उनकी रोटी का साधन है। लेकिन इन युग-स्रष्टाओं को कौन समझाए कि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और युग की आवश्यकता की भी अपनी माँग होती है। जिसकी पूर्ति रोटी की चिन्ता से बड़ी समस्या हुआ करती है।

★★

बच्चन की भाषा और काव्य-रूप | ग्यारह

काव्य की प्रेषणीयता सशक्त भाषा के माध्यम से ही सम्भव है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि अपने भाव के अनुसार ही भाषा प्रस्तुत करता है। भाषा की स्पष्टता-अस्पष्टता रचनाकार की मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। क्लिष्ट भाषा का प्रयोग प्राय: अस्पष्ट भावों के प्रकटीकरण में ही देखा जाता है और नहीं तो भाव की स्पष्टता में तो बाधा उपस्थित होती ही है—"मजा कहने का जब है, एक कहे और दूसरा समझे", प्रत्येक युग के समीक्षकों का यही स्वर रहा है। यहीं अनुभूतियों, प्रेरणा और आवेग की बात आती है। कवि की प्रेरणा जब व्यक्त होने के लिये माध्यम ढूंढ़ती है तो भाषा अपने आप आ उपस्थित होती है। "मसि कागद तो छुओ नहीं" कहने वाले की भाषा सुसंस्कृत, परिष्कृत नहीं थी परन्तु कथ्य इतना प्रभावोत्पादक था—भीतर की आग ऐसी प्रज्वलित थी—कि उसकी मार्मिकता को झुठलाया नहीं जा सका। तथ्य को ही प्रधान तत्व मानते हुए गोस्वामी जी ने भी—'का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये सांच' की घोषणा की थी।

कविता की भाषा अपने अन्य अनेक गुणों के कारण गद्य की भाषा से कुछ विशेष हो जाती है। वैसे जीवन्त भाषा का लक्षण यही है कि वह धारा के प्रवाह-सी निरन्तर गतिशील रहे। भाषा की इस गतिशीलता में उस भाषा के कवियों का विशिष्ट योग होता है। किन्तु जब कवि भाषा गढ़ने लगते हैं तो बौद्धिकता की अति के फलस्वरूप कभी-कभी भाषा सामाजिक न होकर वैयक्तिक बन जाती है। भाषा का प्रमुख गुण होता है सामाजिक होना। शैली, शिल्प की विशेषता व्यक्तिगत होने में है परन्तु जब भाषा व्यक्तिगत हो जाती है तब उसकी संवेदना-शक्ति क्षीण हो जाती है और उससे वांछित प्रभाव नहीं उत्पन्न हो सकता। सहज अनुभूति और प्रबल मनोवेग वाले कवि की भाषा अभिधा प्रधान ही होती है। क्योंकि सहज अनुभूति और मनोवेगों का रचनाकार भाषा से अधिक प्रेरणा पर ध्यान देता है। ऐसी स्थिति में भाषा सहज और सुस्पष्ट होती है।

कविता की सफलता का अनिवार्य गुण माना जाता है उसकी प्रमविष्णुता। "पण्डित और प्रवीनन को जोई चित्त हरे सो कवित्त कहावै" (ठाकुर) चाहे रीति-

काल का कवि हो चाहे छायावाद का, जाने ,अनजाने उसका उद्देश्य यही रहा है कि कथन का भाव पाठक के मन में उसी रूप में जाग सके जिस रूप से अभिव्यक्ति के पूर्व कवि अभिभूत हो उठा था। वैसे देशी-विदेशी अनेक आचार्यों ने काव्य-भाषा पर अपने विचार व्यक्त किये हैं परन्तु माध्यम की उत्कृष्टता यही है कि वह भाव-तत्व को अधिक से अधिक बोधगम्य बना सके।

बच्चन अनुभूति और प्रेरणा को विशेष महत्व देते हैं।—"अनुभवों में डूब और अभिव्यक्ति के माध्यम पर यथासम्भव अधिकार प्राप्त करके मैंने अपने आप को प्रेरणा पर छोड़ दिया है। प्रेरणा के अस्तित्व को मैं मानता हूँ।"[1]

"रचना करते समय भाव-विचारों की अभिव्यक्ति ही मेरा मुख्य ध्येय होता है। शब्दों अथवा अभिव्यंजना के नये प्रयोगों के लिये कुछ लिखना मुझे अस्वा-भाविक लगता है।"[2]

"वास्तव में काव्य की सफलता इसी में तो है कि कवि ने जिन भावों को व्यक्त करने के लिए रचना की है, रचना से वही भाव पाठक के मन में जाग सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कथ्य और कथन के बीच अनिवार्यता हो।"[3]

"मैं कथ्य को स्वयं कथन में अवतरित होने के लिए छोड़ देता हूँ।"[4]

"जब पहली बार मेरी अनुभूति शब्दों में फूट पड़ी थी तब मैंने अवश्य अपने से यह प्रश्न किया था कि क्या मैं कवि हूँ ? कवि हूँ तो—कविहिं अरथ आखर बल साँचा—कवि हूँ तो मुझे शब्दों के माध्यम से अपने को व्यक्त करना होगा।"[5]

बच्चन ने स्वयं अपनी भाषा के सम्बन्ध में विशद रूप में कह डाला है। यहीं यह भी जान लेना अनिवार्य है—"इस कारण शब्दों के माध्यम पर मुझे अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करना चाहिए—साहित्य के स्वाध्याय से, काव्यपाठ से, काव्य के मर्म को समझने के प्रयत्न से। मैं हिन्दी, अंग्रेजी, थोड़ी संस्कृत और थोड़ी उर्दू जानता हूँ, बहुत थोड़ी बँगला भी, और इनके माध्यम से जो कुछ साहित्य-काव्य मुझे पढ़ने को मिला है, उसका मैंने अध्ययन किया है। अब भी समय मिलने पर पढ़ता रहता हूँ। मैं नवयुवक कवियों को अक्सर सलाह देता हूँ कि

१—मेरी रचना प्रक्रिया, सा० हिन्दुस्तान, २७-११-६० पृष्ठ १५

२—वही, पृष्ठ १६

३—बुद्ध और नाचघर, अपने पाठकों से, पृष्ठ १४

४—बुद्ध और नाचघर, अपने पाठकों से, पृष्ठ १४

५—मेरी रचना प्रक्रिया, सा० हिन्दुस्तान, २७-११-१९६०, पृष्ठ १५

सौ पेज पढ़ो, तो एक पंक्ति लिखो। मेरे पढ़ने-लिखने का अनुपात लगाया जाय तो मैं "पर उपदेश कुशल' ही नहीं सिद्ध हूंगा।"[१]

तात्पर्य यह कि बच्चन ने जहाँ अपने भावों को प्रेरणा के अनुसार अभिव्यक्ति के हाथों सौंप दिया है वहीं उन्होंने अध्ययन के आधार पर माध्यम की परिष्कृति और प्रेषण-शक्ति पर भी ध्यान दिया है।

बच्चन की भाषा में न तो संस्कृत का मोह दीखता है न उर्दू के शब्दों से अरुचि। जहाँ जैसी अभिव्यक्ति हुई है भाषा स्वत: अपने सरल रूप में विद्यमान है। बच्चन या उनकी भाँति प्रेरणा और कथ्य पर जोर देने वालों की भाषा अलंकार तथा कटाव-जड़ाव से दूर होती है। बच्चन के पूरे काव्य साहित्य की भाषा को देखें तो मिलेगा कि उन्होंने भाषा को सँवारने का नहीं, बात को विशिष्ट ढंग से कह पाने का प्रयत्न किया है। उर्दू की सफल बहरों का प्रयोग और बोल-चाल की सहज भाषा का उपयोग उनकी अल्हड़ता को ही सिद्ध करते हैं।

'मधुशाला' और प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर आरती और अंगारे तक हमें बच्चन की भाषा बोलचाल के ही निकट मिलती है। उर्दू की लयों से हमारी मात्राओं के कसे बन्धन कुछ ढीले किये जा सकेंगे।'[२]

जहाँ तक छन्दों का प्रश्न है आधुनिक हिन्दी कविता के किसी भी रचना कार ने इतनी अधिक संख्या में छन्दों का प्रयोग नहीं किया है जितना बच्चन ने। बच्चन की मानसिक स्थिति ही छन्द-विभिन्नता का कारण रही है। 'मधुशाला', 'मधुबाला' 'निशा निमंत्रण' 'मिलन यामिनी', 'बंगाल का काल', 'सूत की माला', 'हलाहल' सभी संग्रहों में छन्दों का अलग-अलग प्रयोग हुआ है। यद्यपि इस छन्द-भिन्नता का मूल बच्चन अपने भावों और विचारों को ही मानते हैं। "रचना करते समय मैंने कभी इस पर पूर्व विचार नहीं किया कि किस छंद का उपयोग किया जाय। मैंने अपने भाव विचारों को स्वयमेव छन्दों का रूप निश्चित करने को छोड़ दिया है।'. बच्चन का उपर्युक्त कथन उनका पूर्व रूप ही निर्धारित करता है कि वे भाव-विचारों को ही महत्व देते हैं भाषा या छन्द तो आवरण मात्र हैं।

अब यह देखना है कि भाषा और छन्द किसी में प्रयोग के नाम पर प्रयोग न करने वाले बच्चन की रचनाएँ कहाँ तक सफल हैं। प्रबल अनुभूति का सहज माध्यम अभिधा होती है। अभिधा के कारण बच्चन की रचनाएँ सशक्त, प्रेषणीय और

१—मेरी रचना प्रक्रिया, सा० हिन्दुस्तान, २७-११-१९६०, पृष्ठ १५

२—बुद्ध और नाच घर, अपने पाठकों से, पृष्ठ १७

अधिक प्रभविष्णु बन पड़ी हैं। इनमें पाठक या श्रोता की बौद्धिकता को जागृति करने की तुलना में उसके मर्म को स्पर्श करने की अधिक शक्ति है।

तट पर है तरुवर एकाकी
नौका है सागर में,
अंतरिक्ष में खग एकाकी
तारा है, अम्बर में,
भू पर वन, वारिधि पर बेड़े,
नभ में उड़-खग मेला,
नर-नारी से भरे जगत में
कवि का हृदय अकेला।

—एकांत संगीत

भाषा और भाव की स्पष्टता का ही साधारणीकरण में विशेष योग होता है। और भाषा तथा भाव की सफाई बच्चन के पूरे काव्य-साहित्य में उपलब्ध है। यही कारण है कि कवि के दुख के साथ पाठक की करुणा सहज ही जग पड़ती है और उसकी आनन्दाभिव्यक्ति के साथ वह भी पुलक उठता है।

'बंगाल का काल' की अतुकांत रचना में जहाँ भाषा गद्य के निकट पहुँच गई है वहाँ भी अनेक स्थलों पर ओज और गाम्भीर्य का परिचय मिलता है—

वही बंगाल
देख जिसे पुलकित नेत्रों से
भरे कंठ से,
गद्‌गद्‌ स्वर से,
कवि ने गाया राष्ट्र गान वह

× ×

भूख धरापर जब चलती है,
वह डगमग-डगमग हिलती है,
अन्यायी को खा जाती है,
और निगल जाती है पल में—
आततायियों का दुःशासन,
हड़प चुकी अब तक कितने ही
अत्याचारी सम्राटों के
छत्र, किरीट, दण्ड, सिंहासन।

—बङ्गाल का काल

अपनी अतुकांत रचनाओं में भी बच्चन ने लय और स्वर पर विशेष ध्यान दिया है। यहाँ भी उनका गीतकार सजग है। भावावेग में किसी भी कथ्य को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए जहाँ वे एक ही अर्थ के अनेक शब्द बार-बार दुहराते हैं वहाँ भी शब्द अधिक या व्यर्थ न मालूम होकर कवि के उद्देश्य को अधिक प्रभावशाली बनाने में ही समर्थ हैं। "बुद्ध और नाचघर" की एक सफल रचना 'दिल्ली के बादल' की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत की जा सकती हैं—

बस दिल्ली पर ही बरस न,
ओ घन कजरारे,
ओ मतमारे,
ओ मतवारे।
बस दिल्ली को ही सरस न कर,
नभ, तर मत कर,
मत दिल्ली को ही हरा बना,
कलियों, कुसुमों से भरा बना,
ओ घन काले,
ओ मद ढाले,
ओ मतवाले।
दिल्ली से
पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण भी
इस बड़े देश के खेत खड़े,
इस बड़े खेत की क्यारी है,
जिनको मेहनत ने गोड़ा है,
मिट्टी का ढोंका फोड़ा है,
जिनमें श्रम-सीकर बीजों को
छितराया है,
जिन पर फैले आकाश पटल को
आशाओं से नापा है,
जिन पर करुणा की दृष्टि-वृष्टि
करने को देवी-देवों का
मुँह ताका है

तू उनको आज निराश न कर
तू उनको हत विश्वास न कर।
बस दिल्ली पर ही उमँड़-घुमँड़
मत झड़जा,

प्रतीक विधान, अप्रस्तुत योजना और चित्रात्मकता के लिये सदा सचेष्ट न रहने वाले बच्चन की रचनाओं में भी इनका समावेष बड़े विशिष्ट रूप में हुआ है, जो कवि की अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म-दर्शन का साक्षी है। 'बङ्गाल का काल' और 'बुद्ध और नाचघर' की मुक्त छन्द रचनाओं में भी तुकों के अभाव में कविता लय-हीन नहीं हो पायी है। यद्यपि 'नयी कविता' का 'अर्थ की' लय वाला सिद्धान्त यहाँ लागू नहीं है। भाषा की संगीतात्मकता, शब्द और ध्वनि का लय-आश्रित रूप पूर्णरूप से सुरक्षित है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की सहजता के कारण ही भाषा की स्वर-योजना भी सरल ही दीखती है। कुछ चित्र—

एक बिजली छू गई, सहसा जगा मैं,
कृष्ण पक्षी चाँद निकला था गगन में,
इस तरह करवट पड़ी थी तुम कि आँसू
बह रहे थे इस नयन से उस नयन में।
—प्रणय पत्रिका

कौन लहरें हैं कि जो दबती-उभरती
छातियों पर हैं तुझे झूला झुलातीं ?
कौन लहरें हैं कि तुझ पर फेन का कर
लेप, तेरे पंख सहलाकर सुलातीं ?
—प्रणय पत्रिका

रेख लोहू की लगाकर आ रहा हूँ
मैं अवर की मेखला पर
शक्ति अंबर में परीक्षित, भक्ति की
लूँगा परीक्षा मैं वरणि में
—प्रणय पत्रिका

झुकी हुई अभिमानी गर्दन,
बँधे हाथ, नत-निष्प्रभ लोचन
—एकांत संगीत

दुग्ध-उज्ज्वल मोतियों से युक्त चादर
जो बिछी नभ के पलँग पर आज उसपर
चाँद से लिपटी लजाती चाँदनी है

—मिलन यामिनी

शिथिल पड़ी है नभ की बाहों
में रजनी की काया
चाँद चाँदनी की मदिरा में
है डूबा, भरमाया

—मिलन यामिनी

सुधि में संचित वह साँझ कि जब
रतनारी, प्यारी सारी में, तुम प्राण, मिली नत लाज भरी
मधुऋतु-मुकुलित गुल मुहर तले।

—मिलन यामिनी

छाई है मुरदनी मुखों पर,
आँखों में है धँसी उदासी
विपद्-ग्रस्त हो,
क्षुधा-त्रस्त हो,
चारो ओर भटकते फिरते,
त्रस्त-पस्त हो
ऊपर को तुम हाथ उठाते,

—बंगाल का काल

उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ते ही पाठक के सम्मुख चित्र उभरते जाते हैं और वह एक विचित्र आकर्षण से अभिभूत हो उठता है। ऐसे अनेक बिम्बों और चित्रों के पीछे भी कवि का आग्रह नहीं बल्कि अनुभूति अभिव्यक्ति का सीधापन ही लक्षित होता है।

बच्चन की कविताओं में छायावादी कवियों की तरह किसी विशेष शब्द का मोह नहीं दीखता। जैसे पंत जी की एक युग की रचनाओं में 'चिर' इतनी बार हुआ है कि घिसकर अपना स्वत्व ही खो देगा; ऐसा लगता है। इसी प्रकार तुकों का मोह भी बच्चन में आग्रह न बनकर छंदों की सहजता ही प्रदर्शित करता है। बच्चन ने अपनी जीवन-स्थितियों को वाणी दी है इसीलिये स्थितियों के साथ

अनुभूति, अनुभूति के साथ छंद और भाषा सभी में परिवर्तन होता रहा है। कहीं-कहीं ऐसे अकाव्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी हुआ है जिसे हटा कर भाषा को सँवारने सजाने का प्रयत्न कवि में नहीं मिलता। जहाँ संस्कृत के शब्द धड़ल्ले से मिलते हैं; वहीं उर्दू के बहु प्रचलित लफ्ज और अनेक काव्यात्मकता से हीन शब्द भी हैं। कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायगी।

विगत-बाल्य वसुन्धरा के
उच्च तुंग-उरोज उभरे
तरु उगे हरिताभ पट धर
काम के ध्वज मत्त फहरे
चपल उच्छृंखल करों ने
जो-किया उत्पात उस दिन
है हथेली पर लिखा वह,
पढ़ भले ही विश्व हहरे

—मधुकलश

मेरे वर्ण-वर्ण विश्रृंखल,
चरण-चरण भरमाए,
गूँज-गूँजकर मिटनेवाले
मैंने गीत बनाए
कूक हो गई हूक गगन की
कोकिल के कंठों पर—

—सतरंगिनी।

शहर,
जिसमें हैं मदरसे और कालिज
ज्ञान मद से झूमते-उस्ताद जिनमें
नित नई से नई मोटी पुस्तकें पढ़ते-पढ़ाते
और लड़के घोखते, रटते उन्हें नित,
ज्ञान ऐसा रत्न ही है
जो बिना मेहनत, मशक्कत
मिल नहीं सकता किसी को

* ० *

एक साधू की यहाँ पर झोपड़ी थी
फलाहारी थे, धरा पर लेटते थे
और बस्ती में कभी जाते नहीं थे,
रात से ज्यादा कहीं रुकते नहीं थे
—नीम के दो पेड़, बुद्ध और नाचघर।

कितने सपने, कितनी आशा,
कितने आयोजन, आकर्षण,
बिखर गया है सब के ऊपर
टुकड़े-टुकड़े होकर जीवन
सिर पर सफर खड़ा है लंबा,
फैला सब सामान पड़ा है
—प्रणय पत्रिका

ललित कांगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलानेवालो।
देख तुम्हारी रेखाओं में
जो चिकनाहट, चटक, सफाई,
घेर, घुमाव, कसाव, ढलावट,
लोच, लटक, बल, मोड़, निकाई,
सोच नहीं पाता हूँ कितनी
सहलाई होगी जीवन की—
काया तुमने, भर हाथों में प्यार, कला के नाम निहालो।
—आरती और अंगारे

सौगंध खुदी की, मैं आहिस्ता बोलूंगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने।

० ० ०

गालिब, वह गलबा लादो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अन्दाजे बयाँ कुछ और बने।

० ० ०

मुल्क में, इकबाल, जो तुम भर गये थे,
वह सदा फिर-फिर निकलती।

० ० ०

आजादी के जद्दोजहद में
जूझ रहे थे जब दीवाने
लगे हुए थे तुम लिखने में
नाटक, गल्प, निबंध, तराने,

—आरती और अंगारे

नत्थू खेरे ने गांधी का कर अन्त दिया,
क्या कहा, सिंह को शिशु मेढक ने लील लिया

—सूत की माला

लाओ वे फरसे, बरछे, वल्लम, भाले,
जो निर्दोषों के लोहू से हैं काले,
लाओ वे सब हथियार, छुरे, तलवारें,
जिनसे बेकस-मासूम औरतों, बच्चों,
मर्दों के तुमने लाखों शीश उतारे

—सूत की माला

उपर्युक्त पंक्तियों में जहाँ भाषा की कोमलता, मधुरता है वहीं कर्णकटु शब्द भी प्रचुर संख्या में विद्यमान है। परन्तु इनके लिये कहना यही है कि स्थिति और वातावरण की सजीवता में ऐसे शब्द योग ही देते हैं; निर्दोष लगते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो बहुत सम्भव है कि भाषा के सँवार-बनाव में भावानुरूप वातावरण नहीं उपस्थित होता, भाषा भले नववधू-सी सिमटी-लजाई खड़ी रहती। युद्ध की भाषा और सुहागरात में अनुनय-विनय की भाषा का अन्तर जाननेवाले इसे दोष नहीं मान सकते। समर्पण, उत्थान, पुनरुत्थान, अभ्युत्थान, अग्निपिण्ड, ज्योति पिण्ड, महदाकार, सीमाहीन के साथ सबूत, एतकाद, मुसीबत, मुश्किलें, दर्द, जुदा, उस्ताद और मशक्कत भी हैं। पर इन शब्दों का जहाँ उपयोग हुआ है वे 'मिस-फिट' नहीं लगते। उर्दू बहरों की संगीतात्मकता से प्रभावित बच्चन की कविताओं में 'कलम' उर्दू कवायद (व्याकरण) के लिहाज से मुजक्कर (पुलिंग) रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

इन सब के अतिरिक्त बच्चन की कविताओं में शिल्प-सौष्ठव विशेष आकर्षक है। कवि ने चाहे रुबाई, (मधुशाला, हलाहल) चाहे सानेट्स (निशा निमन्त्रण, एकांत संगीत) चाहे मुक्त छन्द (बंगाल का काल, बुद्ध और नाचघर) चाहे अन्य संग्रह जहाँ भी, जिस भी छन्द का प्रयोग किया है—एक साँचे में भावों को ढालते जाना उसका ध्येय रहा है। "महादेवी के कविता-संग्रहों में जैसी एक-

सूत्रीय योजना मिलती है, बच्चन के संग्रहों में वैसी ही योजना है, अर्थात् एक-एक संग्रह के गीतों में एक ही जैसे भावों का उद्रेक करनेवाले वाह्य-आन्तरिक जीवन की स्थितियों और प्रसंगों को लेकर गीत-रचना की गई है"[१], यहीं इतना और कि भावों की एक सूत्रीय योजना के अनुरूप ही छन्दों और शिल्प विधान में भी एक सूत्रीय योजना मिलती है। और यही वर्ड्सवर्थ की 'सफल गद्य की भाषा ही कविता की भाषा है' उक्ति सिद्ध हो जाती है। यों कहें कि भाषा की दृष्टि से बच्चन ने किसी भी शब्द को अकाव्यात्मक समझा ही नहीं है। उन्हें तो अनुभूति और अभिव्यक्ति का मोह है, भाषा का नहीं, और इसीलिये भाषा कहीं अस्पष्टता नहीं उत्पन्न करती वरन् प्रेष्णीयता में योग देती है, जो प्रशंसनीय है।



१. शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ ९६

यह कमल का बास है दादुर!

बारह

बच्चन ने हिन्दी के समीक्षकों को मेढक कहा है। मेढक जो खिले हुए कमलों से युक्त सरोवर में निवास तो करता है लेकिन उस स्वर्गीय बास से अपरचित रहते हुए। उस कीचड़! बिहारी को कमल से क्या वास्ता—और इस प्रकार इस उद्घोष से कई छिपे हुये प्रश्न बाहर झांकने लगते हैं—क्या बच्चन की कविता सचमुच कमल-गन्ध है जिसे हिन्दी का समीक्षक अभी तक समझ नहीं पाया? क्या बच्चन की यह उक्ति किसी वैयक्तिक आग्रह की शिकार नहीं? क्या हिन्दी समीक्षा ने बच्चन का समुचित आकलन किया है? और क्या समीक्षकों द्वारा बच्चन की उपेक्षा नहीं की गई है?

इस तथ्य से प्राय: सभी सहमत हैं कि हिन्दी साहित्य की दूसरी विधाओं में जितना विकास हुआ है, जितनी प्रगति हुई है, समीक्षा के क्षेत्र में वह प्रगति उसी अनुपात में नहीं हो पायी है। कारण ढूंढ़ने पर लगेगा कि आचार्य शुक्ल के पश्चात् समीक्षा के क्षेत्र में जो प्रतिभाएँ आई हैं उन्होंने या तो किसी 'वाद' विशेष से अपने को संयुक्त रखा है और नहीं तो अपने को भी समर्थ समीक्षक कहलाने की स्पृहा ने उनको उन्हीं युगों और व्यक्तियों (रचनाकारों) की ओर देखने को बाध्य किया है जिनकी चर्चा से उन्हें भी प्रसिद्धि मिलने की आशा रही है। इसके अतिरिक्त, हिन्दी में एक रोग, काफी पुराना रोग पलता जा रहा है, जिसका सम्बन्ध चलते-फिरते फतवों से है। ये फतवे प्राय: ही किसी वाद, किसी भी रचयिता या किसी भी रचना के प्रति दे डाले जाते हैं। परिणाम यह होता है कि मौलिक रचना का पाठ तो दूर, लोग पढ़ने का कष्ट उठाना क्यों गँवारा करें? जिक्र आने पर प्राय: सुनी हुई बातें कह जाते हैं और समीक्षा का दायित्व पूरा हो जाता है। अभी आज तक भी बड़े-बड़े समीक्षक बच्चन को हालावादी नाम से ही जानते हैं; क्योंकि उन्हें सुस्थिर चित्त से बैठ कर विचारने का मौका ही कहाँ मिला कि 'मधुशाला' के बच्चन ने १९२९ से १९६९ के बीच "त्रिभंगिमा" तक आते-आते कितनी-कितनी दूरियाँ पार की हैं, किन-किन कारणों से जीवन और जगत के किन-किन पक्षों का उद्घाटन किया है। इसी संदर्भ में बच्चन की प्रारम्भिक

रचनाओं से लेकर आज तक देखना यह है कि क्या सचमुच उनकी रचानाओं का यथोचित मूल्यांकन नहीं हुआ है ?

बच्चन ने जब साहित्य मन्दिर में प्रवेश किया था उस समय उनके हाथों में मधु से भरे प्याले थे, आँखों में मस्ती थी और होठों पर गीत थे। दूसरों ने यद्यपि उनके पाँवों को लड़खड़ाते भी देखा था किन्तु वास्तविकता कुछ और थी, वह खुमारी वह मस्ती एक विद्रोह का स्वराघात थी, एक युवक की यौवनोचित भावनायें थीं जो दूसरों में भी प्राण-प्रतिष्ठा करने की शक्ति से भरपूर थी। 'बने रहो ऐ पीने वालो, बनी रहे यह मधुशाला'। यह किसी भी कठिन परिस्थिति में साहस बंधाने के लिये अमोघ अस्त्र था। किसी भी उदासी के कैसे भी दुखी क्षणों में कुछ काल तक अपने आप को सारी उलझनों से तटस्थ कर पाने के लिये महा मन्त्र था। लेकिन यह स्वर नया था, अभिव्यक्ति शैली नयी थी और व्यंजना नयी थी। विहार से किसी ने किसी विशेष स्वार्थ वश "हालावाज" बच्चन का फतवा उड़ा दिया तो फिर बच्चन हालावाद के प्रवर्तक मान लिये गये। फिर लोगों ने "मधुशाला" के प्रतीकों को न तो ठीक से जानने की चेष्टा की और न यही कि पुस्तक किस सीमा तक साहित्य तथा जीवन को प्रभावित करती है। वरन् तब यह पता लगाया जाने लगा कि बच्चन कितना पीते हैं, कब पीते हैं, और पीते समय मधुशाला बाँचते हैं या नहीं ? 'मधुशाला' पी कर लिखी गई थी अथवा बिना पिये ?

ये और इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें, जैसे बच्चन के लिए परम्परित नैतिकता का कोई मूल्य नहीं, बच्चन प्रत्यक्ष भोगवाद के समर्थक हैं, आदि कही-सुनी जाती रहीं। फल यह हुआ कि समीक्षकों द्वारा उपेक्षित बच्चन अपने पाठकों और श्रोताओं के अत्यधिक प्रिय बनते गये और यही कारण था कि उन्हें समीक्षकों की निष्पक्षता पर भरोसा नहीं रहा। 'मधुशाला' से आगे बढ़ते ही बच्चन ने डंके की चोट पर कहा—

मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता
शत्रु मेरा बन गया है
छल रहित व्यवहार मेरा
कह रहा जग वासना मय
हो रहा उद्गार मेरा।

और

क्या किया मैंने, नहीं जो
कर चुका संसार अब तक

वृद्ध जग को क्यों अखरती -
है क्षणिक मेरी जवानी ?

क्योंकि बच्चन ने तो अपनेपन को, अपने अन्तर की भावनाओं को ही शब्द देने का प्रयत्न किया था। उन्होंने तो कवियों की सूची से अपने नाम को हटा देने की माँग की थी—

मैं रोया, इसको तुम कहते हो गाना,
मैं फूट पड़ा, तुम कहते, छंद बनाना
क्यों कवि कह कर संसार मुझे अपनाए,
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना

लेकिन बच्चन की उस मस्ती का राग भी अक्षुण्ण नहीं रह पाया और अचानक उन्हें दुःख की ऐसी गहन तिमिरावृत घाटियों में जाना पड़ा, निराशा और पीड़ा के ऐसे क्षणों से गुजरना पड़ा, जहाँ पहुँच जाने पर जीवन का मोह भी छूट जाता है। अपनी प्रथम पत्नी श्यामा की मृत्यु और इतनी ही पीड़ादायक एक अन्य घटना इन दोनों ने युवक कवि के सारे सपनों को व्यर्थ ही नहीं सिद्ध कर दिया अपितु जीवन से विमुख भी कर दिया। "आओ सो जायें, मर जायें।" अब तो मृत्यु की कामना ही जैसे कवि के लिए एक मात्र मुक्ति का हेतु लगने लगी। इसी अवधि में बच्चन ने 'निशा निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' 'आकुल अन्तर' की कविताएँ लिखीं। लेकिन यदि हम कविता के क्षेत्र में होनेवाले दूसरे प्रयोगों को देखें तो लगेगा कि जब बच्चन ने 'मधु' का आह्वान किया था वह छायावाद की समाप्ति की वेला थी और जब 'निशा निमन्त्रण' और 'एकांत संगीत' के शोक गीतों को स्वर दिया था वह समय हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का प्रारम्भिक काल था। यूँ जब एक ओर दूसरे कवि रूस की विरुदावलि गाते हुए मार्क्स के भौतिकवादी विचारों का प्रचार कर रहे थे दूसरी ओर बच्चन का कवि दुःख से कातर हो शोकगीत लिखने में लगा था। धीरे-धीरे जब प्रगतिवाद का बैंड बजता-बजता बन्द हो गया और १९४३ ई० में अज्ञेय ने 'तारसप्तक' का प्रकाशन कर काव्य-उपवन में कुछ और ही प्रकार के कलमी फूल खिलाये उस समय भी इस पार से उस पार तक झाँकने पर भी उस बगीचे में बच्चन कहीं नहीं दिखे। तारसप्तक ने काव्य के क्षेत्र में 'प्रयोग' शब्द को नये अर्थ और नई गुरुता से प्रतिष्ठित किया और यही कारण था कि उस विशेष प्रकार के प्रयोगों से युक्त कविता को 'प्रयोगवादी' संज्ञा ही मिल गयी। इस प्रयोगवाद के कवि अभी पथ का अन्वेषण ही करने के पक्ष में थे जीवन के समग्र रूप से उनका

विशेष परिचय नहीं था। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'छायावाद' के उत्तरार्द्ध में आये हुए बच्चन के कवि ने प्रारम्भ से ही अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाने का प्रयत्न किया और प्राय: उसका स्वर सभी से अलग ही रहा। और बहुत अंशों तक कहा जा सकता है कि समीक्षकों द्वारा उपेक्षा का यह भी कारण रहा क्योंकि किसी भी युग विशेष या वाद विशेष की चर्चा के समय बच्चन पर विचार करने की उसे कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। बच्चन ने अपने एक पत्र में स्वयं लिखा है—I refuse to be placed under any school. At last I am a bridge between two schools—The Chhayavad and Pragativad. The gods are too perfect to desire progress. Hence chhayavady Poetry is static. I discovered man thurting after his dreams. He moves, he progresses, he lives.

बच्चन ने प्रारम्भ से ही नारेबाजी से अपने को बचाने का प्रयत्न किया। न तो उनके कवि ने किसी वाद विशेष की शरण ली और न किसी 'वाद' को चलाने का प्रयत्न ही किया। उमरखैयाम के जीवन दर्शन से कुछ दिनों प्रभावित रहने के पश्चात् उन्हें स्वयं बोध हो गया कि खैयाम का जीवन-दर्शन न तो सम्पूर्ण जीवन को देखता है और न वह श्लाघनीय ही है। इस प्रकार अस्कूल और अवाद बच्चन का मूल्यांकन ?

"आरती और अंगारे" की भूमिका में बच्चन ने स्वयं लिखा है—"इस-उस कोने से आपको लोगों के ऐसे भी स्वर सुनाई देंगे कि अब गीतों का युग बीत गया है। आप अचरज मत कीजियेगा यदि ये लोग कल कहते सुने जांय कि अब हँसने-रोने का, प्रेम करने का, संघर्षरत होने का युग बीत गया है। आज जो ऐसी बातें कह रहे हैं उन्हीं के बाप-चाचों ने जब "मधुशाला" निकली तो कहा था, यह मस्ती का राग अलापने का युग नहीं है; "निशा-निमंत्रण" निकली तो कहा था। यह रोदन-क्रन्दन का युग नहीं है; "सतरंगिनी" निकली तो कहा था—यह प्रेम के तराने उठाने का युग नहीं है; और उनके बेटों-भतीजों ने "प्रणय-पत्रिका" निकली तो कहा यह तो बीते युग की बातें हैं।" (आरती और अंगारे, पृष्ठ १६)

बच्चन के कवि का यह आक्रोश हिन्दी के समीक्षकों के लिये एक चुनौती है कि वह समीक्षक के दायित्व का यथोचित निर्वाह नहीं कर सके। समीक्षकों पर अनेक आरोप लगाते हुए कवि ने स्पष्ट कहा है—

मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।
सब समझ मैंने लिया, तुमको नहीं है
खोज उनकी जो कि अधिकारी बने हैं
स्नेह, संवेदन, समादर के; तुम्हें तो
खोज उनकी जो कि लाचारी बने हैं,
जिन्दगी की, वक्त की, जिनको कि करुणा
का बनाकर पात्र तुम यश-पुण्य लूटो
खैरियत है, युद्ध मेरे अग्नि ज्वाला
से, अँधेरे से, जमाने से ठने हैं
स्नेह, संवेदन-समादरणीय बन पाऊँ, न पाऊँ
मैं नहीं दयनीय बनना चाहता हूँ।
साफ सौदा यह नहीं, अपनी दया का मूल्य ज्यादा
और मेरे मान का कम आँकते तुम।
मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।

× ×

मैं सिफारिश से तुम्हारा प्यार पाऊं, तो न पाऊँ।
कामना कुछ प्राप्त करने की हुई तो
प्रथम अधिकारी बना दूँ
और फिर मैं काल के, संसार के, औ
भाग्य के आगे तना हूँ
मैं वहाँ झुक कर जहाँ झुकना गलत है
स्वर्ग ले सकता नहीं हूँ।
झूठ बुलवाये न जिह्वा, सर्वदा मैंने
नहीं है न्याय पाया
और थोड़ी-सी अकड़ से, जानता हूँ
जो न पाया, सो गँवाया,
योग्यता की पोल में क्या चीज भरकर
कुछ उसे सीधी किये हैं
रीढ़ ही जो तोड़ बैठे होड़ क्या उनसे लगाऊँ
मैं सिफारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ तो न पाऊँ।

और यदि इस संदर्भ में एक समीक्षक के विचार प्रस्तुत करूँ—डॉ० नगेन्द्र ने बच्चन के काव्य की समीक्षा का आकलन करते हुए लिखा है—'परन्तु वास्तव में इन आलोचनाओं में जीवन को बहुत सतह से देखा गया है और हल्की भावुकता के मापदण्ड से मापा गया है। इस प्रकार के आलोचक स्थूल आदर्शवाद के मोह में जीव की अपराजेय शक्ति के महत्व को भूल जाते हैं। इस तरह का आदर्शवाद जीवन के एकांश को देख पाता है, सर्वाङ्ग को नहीं।" [आ. हि. कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ८६]

सुना एक प्रोफेसर समीक्षक के पास कुछ रचनाकारों की लिस्ट है। बाकायदे उस सूची में कवियों, कथाकारों तथा सभी प्रकार के कारों का नामोल्लेख है जो उनकी पार्टी के हैं। इस प्रकार यदि हिन्दी में कोई कवि है तो वह उनकी लिस्ट का ही हो सकता है। हाँ इस सूची के नाम घटते-बढ़ते भी रहते हैं। जब कोई लेखक उस प्रोफेसर समीक्षक के विचारों से अलग लिखने लगता है और यदि पर्याप्त प्रमाण मिल जाय तो फिर उस सूची से उस लेखक का नाम हटा दिया जाता है। इस प्रकार पार्टी के पाँच व्यक्तियों का समर्थन मिल जानेपर लिस्ट में नये नाम जुड़ भी जाते हैं।

तो क्या बच्चन के आरोप सही हैं? तों तो किसी भी युग का रचनाकार अपने समसामयिक समीक्षकों से कभी भी संतुष्ट नहीं दीखा है फिर भी कुछ-न-कुछ ऐसे कारण अवश्य रहे हैं जिनके आधार पर समीक्षक को ही सारा दोष नहीं दिया जा सकता। जहाँ तक आचार्य शुक्ल का ही प्रश्न है उन्होंने 'छायावाद' के साथ किसी सहानुभूति का परिचय नहीं दिया फिर भी उस युग के किसी रचनाकार विशेष की उपेक्षा भी शुक्लजी ने व्यक्तिगत् राग-द्वेष के कारण नहीं की और आज तो परिस्थितियाँ ही एक दम दूसरे प्रकार की हैं। आज का कवि-लेखक तो छपने के पूर्व ही उस कृति विशेष के प्रचार-प्रसार के प्रयत्न में लग जाता है। रचनाकार अपने मित्रों द्वारा समीक्षा कराने की योजना बनाता है और उसकी इच्छा यही रहती है कि एक बार साहित्य के आकाश में उसी का, केवल उसी का नाम गूँज उठे। यह प्रवृत्ति बुरी नहीं है। आकांक्षायें आगे और आगे बढ़ने को प्रेरित करती हैं, लेकिन आकांक्षायें यदि प्रेरणा हीन और केवल लोभ का ही कारण हों तो फिर आज प्रायः ही कुछ नये नाम चर्चा का विषय बनते हैं और फिर उनकी स्मृति भी शेष नहीं रहती। आखिर क्यों? क्या समीक्षकों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं? क्या समीक्षा के लिये वे ही युग या वे ही कवि-साहित्यकार हैं जिनकी रचनायें पाठ्यक्रमों में निर्धारित हैं? यदि हाँ, तब तो क्या कहना! लेकिन

ऐसा ही नहीं है। आज हिन्दी में जागरूक पाठकों; समीक्षकों की संख्या बढ़त जा रही है। फिर भी कवि का यह कथन कि कुछ शीघ्रातिशीघ्र उछल कूदी मचाकर अपने को प्रसिद्ध कर देने के लिये विशेष प्रयत्नशील दीखते हैं, अस्वाभाविक नहीं लगता—कवि ने ऐसे ही रचनाकारों की ओर देखकर अपने आपको जैसे—सम्बोधित कर कहा है—

और जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गंभीरे !
आसमानी इस प्रलोभन में, बताओ,
क्या अनोखा, क्या नया है,
जो कि इसको लोकने को लोभियों का
आज मेला जुड़ गया है।
होड़ इनसे, जोड़ इनके साथ करने
की नहीं तुझको जरूरत,
और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गंभीरे।

\+ \+

और ये जितने उछलते-कूदते हैं
क्या सभी कुछ पा रहे हैं ?
कुछ न पाएं पर जमाने की नजर में
तो उभरते आ रहे हैं;
जो कि अपने को दिखाते घूमते हैं
देखते खुद को कहाँ हैं,
और खुद को देखने वाली नजर
नीचे सदा रहती गड़ी रे।
और इस हल्की हवा फुल्की सतह पर
दीखता उड़ता हुआ जो
या कि है कीड़ा-मकोड़ा, या कि रजकण,
या कि जो तिनका, मुआ जो;
दाँत से इनको पकड़कर कुछ बड़े खुश
हो रहे हैं, पर तुझे तो

सिर्फ लेना है अतल गहराइयों से
ठींकरे हों या कि हीरे ।
और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गंभीरे ।

अब देखना है कवि का यह आत्मदर्प कहाँ तक उचित है। बच्चन ने अपने जीवन का गान किया है। वाह्य प्रभावों से अपने को एकदम अलग न तो कोई संवेदनशील रचनाकार रख सकता है और न बच्चन से ही यह सम्भव था। इसीलिये बंगाल के अकाल और महात्मा गांधी के निधन जैसी घटनाओं से कवि का मन अप्रभावित नहीं रह सका। बंगाल के अकाल और उस प्रदेश विशेष की विपत्ति की करुण कथा प्रगतिशील बनने वाले अनेक लेखकों के रहते हुये भी उनसे दो बूँद स्याही नहीं पा सकी और इसी प्रकार महात्माजी के निधन पर यद्यपि लिखा तो कई लोगों ने लेकिन बच्चन की रचनायें जैसे हृदय के अधिक निकट लगती हैं, अधिक तीव्र और अधिक स्पर्शी हैं।

लेकिन इन सबके बावजूद भी क्या सचमुच हिन्दी का समीक्षक दादुर है जो बच्चन की रचनाओं का अर्थ ही ग्रहण नहीं कर सकता ?

यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।
यह नहीं छीलर कि जिसमें
तू छपक छैया करेगा
या हवा, जिसमें मकोड़ों
को पकड़ मुँह में धरेगा;
साँस, अथवा, फेफड़े की—
गाल जो तुझको बजाने में मदद दे
और जग में कुछ, कहीं उपयोग
का है, जान तू सकता नहीं है।
यह कमल की पूर्ण सत्ता
का बड़ा बारीक सत है,
गानरत की प्राण-ध्वनि है
या किसी कवि का कवित है
या कि विरही यक्ष का उच्छ्वास
जिससे मेघदूत प्रसूत होता,

या निमंत्रण यक्षिणी का
मौन बैठी जो कि अलका में कहीं है।
और सुनता यह निमंत्रण,
और गिरि-वन खंड करता
पार, आता, गुनगुनाता,
और पंकज में समाता
नाक तुझको, सूंघने की
सूक्ष्मता तुझमें कहाँ, कीचड़-विहारी,
कीट-भक्षी जीभ से मकरंद
मधु को छान तू सकता नहीं है।
यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

और इन तमाम के बावजूद भी यह तो नहीं ही कहा जा सकता कि समीक्षक बच्चन की रचनाओं का मर्म समझ ही नहीं सकते, वरन् यह कि समीक्षकों ने बच्चन के प्रति अपने दायित्व का यथोचित निर्वाह तो नहीं ही किया है।

✩✩

बच्चन : और उनके साथ : कुछ नोट्स | तेरह

शायद, आप मेरी बात से चौंकें, सम्भव है मेरी अल्पज्ञता पर हँसें भी। पर वास्तविकता यही है कि पहली-पहली बार जब मैंने 'मधुशाला' की कुछ पंक्तियाँ पढ़ी थीं तो लगा था—'मधुशाला' तो 'मेला घुमनी' एवं 'बिल्ली का नाना' जैसी ही पुस्तक है। क्योंकि 'बनी रहे यह मधुशाला' की टेक का साम्य 'आज काशी में मेरा कोई खरीदार नहीं' से बिठा लेना मेरे बाल-बोध के लिये कठिन नहीं था।

बात १९४६ के जून की है। मैंने वर्नाक्युलर मिडिल की परीक्षा पास की थी और प्रथम श्रेणी में। इतनी-सी बात मेरे किसान पिता के लिये कितने महत्व की थी कि उन्होंने मेरी भावी शिक्षा का क्षेत्र कलकत्ता चुना और सारी व्यवस्था कर ली। कलकत्ता एक बड़ा नगर, और बड़े नगर से शिक्षा प्राप्त करना बड़ी बात है। मैं स्वयं कलकत्ते के नाम पर बेहद खुश, साथ ही बड़े भाइयों के सम्पर्क की सुखद-कल्पना। इसीलिये सोचा एक बार बहन की ससुराल से हो लें; पता नहीं फिर कब मिलना हो। अतः मैं पाण्डेयपार (आजमगढ़) चला गया।

वहीं मुझे 'मधुशाला' के कुछ पन्ने (फटे और गन्दे) मिल गये। हम-उम्र मित्र-मण्डली मुक्त स्वर में उसका सम्मिलित पाठ करती और अपने स्वर तथा सहृदयता पर मुग्ध भी दीखती।

तब तक मेरा काव्य-ज्ञान, काव्य परिचय 'सुमन-संचय' तक ही सीमित था। मैं उसी में रस लेता और कभी-कभी तो ऐसा लगता—काश, शिक्षा के नाम पर, परीक्षा के नाम पर कवितायें ही पढ़नी होतीं। यूँ कहें कि शब्द-चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य को ही मैंने उत्तम काव्य माना था—और कविता मेरे लिए—कविता की परिभाषा-सीमायें कुछ और ही थीं—

* कविता जो शीघ्र ही समझ में न आये।
* कविता जिसे जितनी ही बार पढ़े आनन्द बढ़ता जाये।
* कविता जिसके विभिन्न अर्थ हों और सभी तर्क-संगत।
* और कविता जो बिना अर्थ-बोध के भी वाचक को याद हो जाये।

जैसे—

शंकर नदी-नद नदीसन के नीरन को
भाप बन अम्बर ते ऊँची चढ़ि जायगी
दोनों ध्रुव छोरन लों पल में पिघल कर
घूम-घूम धरनी धुरी पर मढ़ि जायेगी
झारेंगे अंगारे ये तरनि-तारे-तारा-पति
जारेंगे खमण्डल में आग बढ़ि जायगी
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहि
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ि जायगी

और इस प्रकार खड़ी बोली के नाम पर भी प्रसाद, मैथिलीशरण, सियाराम शरण, निराला और महादेवी की रचनाएँ पढ़ी थीं। लेकिन आज जब मैं इस स्मृति को सँजोने बैठा हूँ तो अनायास हँसी आ गई है। अपने आप पर जैसे व्यंग्य का आधार मिल गया है।

और 'बनी रहे यह मधुशाला' 'आज काशी में मेरा कोई खरीदार नहीं' तक सीमित रह गई।

और फिर माँ की अनुमति के बिना मेरा कलकत्ता जाना रुक गया। सन् १९४७ से १९५२ तक की अवधि मेरे लिए विशेष महत्व की सिद्ध हुई। यूँ कि 'राम का हाथी, लखन का घोड़ा, दोनों दौड़े तावड़ तोड़ा'—तब तक मैं भी जोड़ने लगा था और सौभाग्य या दुर्भाग्य कि हाईस्कूल के घेरे से निकलते ही मेरी रचनाएँ भी पत्रों में स्थान पाने लगीं।

अब आधुनिक कवियों की जानकारी, उनकी रचनाओं के साथ उनका व्यक्तिगत जीवन भी मेरे कौतूहल और जिज्ञासा का हेतु बन गया। यद्यपि इस अवधि में बच्चन जी के सन्दर्भ में व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी जो ज्ञान मुझे मिला वह सही अर्थों में भ्रम ही था, फिर भी मैं उन्हें बहुत बड़ा कवि मान चुका था और साथ ही बहुत बड़ा आदमी भी। मैं तब कवि को साधारण लोगों से विशेष जानता था। जब सूर्यकान्त त्रिपाठी के लिये 'निराला', रामधारी सिंह के लिए 'दिनकर', हरिवंश राय के लिये 'बच्चन' तथा शिव मंगल सिंह के लिये 'सुमन' जरूरी था तब मैं भी चन्द्रदेव सिंह 'हृदय' बन गया।

और मैं तब भी बच्चन जी को वैसा ही समझता था जैसा प्रायः लोग; जो मात्र उनके काव्य से परिचित हैं, जानते हैं। अब बच्चन जी के कवि के प्रति तो अच्छी धारणा बन ही गई थी मगर जब-जब मैं उनके मधु-सेवीपन का जिक्र करता था तो कुछ लोग नाक-भौं सिकोड़ते नजर आते थे, फिर भी पता नहीं क्यों

उनका यह आचरण भी मुझे अच्छा इसलिये लगता था कि चाहे शराब नहीं, जहर पियें दूसरों के बाप का क्या और यह भी कि कविताएँ तो लिखते हैं। लोग कवि-सम्मेलनों में उन्हें सुनने को बेताब तो रहते हैं। क्योंकि कवि-सम्मेलन तो नहीं पर उसकी सूचनायें मैं पढ़ लेता था और ऐसी जानकारी अपने को आधुनिक कवि कहलाने के लिये मेरे अहम् की तुष्टि की ही वजह थी।

फिर तो १९५३ में कलकत्ता चला आया। यहाँ बच्चन जी के सम्पूर्ण काव्य-साहित्य से परिचित ही नहीं हो गया बच्चन जी मेरे लिए सबसे प्रिय कवि बन गये। तभी मैं सोचने लगा किसी भी प्रकार इस व्यक्ति से परिचित हो पाता! लेकिन कुछ ऐसा अपने ही भीतर था जो रोकता था या व्यक्त नहीं होने देता था। पर सच कहूँ तो बच्चन जी से नावाकिफ होते हुए भी उनके और अपने बीच के सम्बन्धों की मैं बड़ी शान से बोल भी जाता था जब कि इतनी सूझ थी कि "झूठ" है, फिर भी शायद उनके प्रति अपनी आत्मीयता ही थी जो भ्रम में भी "तोष" का अनुभव कराती थी। और यहीं १९५५ में मेरी 'स्नेह-सुरभि' पुस्तक छपी—गीतों का संग्रह। मैंने बच्चन जी के यहाँ सम्मत्ति के लिये भेज दी। पुस्तक भेजी गई थी प्रयाग के पते पर और उत्तर मिला काठमांडू, नेपाल से। तब शायद बच्चन जी बीमार थे शायद और भी कारण हो पर पत्र कि मुझे जैसे वांछित मिल गया हो, जैसे कुछ ऐसा हुआ हो जिसकी मुझे कल्पना भी न हो। लगा इस व्यक्ति में नयों के प्रति कितनी ममता है, कितना स्नेह और उन्हें विकसित देखने की कितनी लालसा-स्पृहा है। सम्मति तो खैर–'कभी प्रयाग आयें तो दर्शन दें, मैं कभी कलकत्ता आया तो मिलना चाहूँगा।' और मैं फूला नहीं समाया। ऐसा तो किसी ने नहीं लिखा—तो क्या जिसके विषय में जितना भला सोचा जाय वह भी उसी दिशा में सोचता है? मैं प्रयाग नहीं जा सका किन्तु उसी वर्ष बच्चन जी ही कलकत्ता आये।

बच्चन जी से मैं मिला और अनेक बार मिला। वे घटनायें वे वातावरण जो उनके व्यक्ति को कुछ सीमा तक जनता के समीप लाते हैं—के पूर्व मैं दो बातों की चर्चा और कर देना चाहूँगा।

१९५५ ही था। श्री गोपी कृष्ण 'गोपेश' का स्थानान्तरण आकाशवाणी प्रयाग से कलकत्ता केन्द्र के लिये हो गया। उन्होंने बच्चन जी से कहा, "अच्छा होता आप अपने वहाँ के मित्रों को मेरे लिये परिचय-पत्र जैसा कुछ लिख देते; ताकि नई जगह की उलझनें कुछ कम हो जातीं।" वैसे जहाँ तक मेरी जानकारी है यहाँ कलकत्ते में उनके अनेक समर्थ और सहृदय मित्र हैं परन्तु उन्होंने जाने क्यों चन्द्र

देव सिंह का ही नाम लिया था और कहा था—शायद वह तुम्हारे काम आ सके। यह बात मुझे गोपेश जी के कलकत्ता आने पर मालूम हुई और तभी एक और घटना—

गर्मी के दिन। प्रयाग की गर्मी, दिन के एक बजे करीब। गोपेश जी अपने घर से दो मील पैदल चल कर बच्चन जी से मिलने गये हैं। (तब शायद गोपेश जी बेकार थे—शायद विद्यार्थी थे) और बच्चन जी–कि दरवाजा बन्द कर भीतर सो रहे हैं। गोपेश जी जगाते नहीं लौट जाते हैं और जब कि यह सारी बातें बच्चन जी को मालूम होती हैं—"जो आदमी प्रयाग की गर्मी में दिन के एक बजे मेरे घर आये और मिलने आये उस समय यदि मैं सोया होऊं तो उसे पूरा हक है कि दरवाजा तोड़ दे"—उनकी यह युक्ति मानवता के लिए, मनुष्य मात्र के लिए कितनी विचित्र, कितनी प्रशंसनीय और कितनी अनुकरणीय है।

हाँ, तो मैं पहली बार मिल रहा था। मैं, गोपेश जी और बच्चन जी। सुबह के आठ होंगे। जाते ही इन्होंने छाती से लगा लिया। अनेक कुशल क्षेम के प्रश्न किये, पढ़ाई-लिखाई की जिज्ञासा की और फिर नाश्ते का प्रबन्ध कराने लगे। वे यहाँ (कलकत्ते) मेहमान थे लेकिन ऐसा नहीं लगता था कि यह व्यक्ति बाहरी है, घर का नहीं। और तभी स्मरण आ गया जो मिले बिना ही मात्र पत्रों के आधार पर किसी दूरस्थ व्यक्ति पर इतना अधिक भरोसा कर लेता है कि अपने अन्य प्रिय व्यक्ति को उसके विश्वास की राय दे सकता है, क्या वह हर कहीं परिवार के सदस्य का अधिकार नहीं प्राप्त कर लेगा?

और फिर तो बच्चन जी चार दिन रुक गये। स्थानीय "भारतीय संस्कृति संसद" की ओर से "सोसाइटी" सिनेमा-गृह में कोई कार्यक्रम था। कार्यक्रम में बच्चन जी को भाग नहीं लेना था वे मात्र दर्शक थे। किन्तु फिर भी अनेक लोग संयोजक प्रमित्त उन्हें मंच पर नहीं तो उसके अत्यधिक समीप तो बिठाना ही चाहते थे—शायद इस प्रकार वे बच्चन जी का सम्मान कर रहे थे। लेकिन वे अपने विचार से 'अकेले नहीं थे बल्कि तीन थे, गोपेश जी और मुझे जोड़ कर। खैर वे साधारण रूप में ही बीच की पंक्तियों में एक जगह बैठ गये। वहीं एक बात और कि तब बच्चन जी इंगलैंड से लौटे थे, पता नहीं प्रभाव उन पर क्या था, किसका और कैसे कि एक ही सफेद पैण्ट और सफेद बुशर्ट वे पूरे चार दिनों तक पहने रहे। उसी को पहन कर सोना, बैठना और चाहे कहीं भी जाना, कैसे भी जाना। न वस्त्रों की चिन्ता और न बालों की। तब गोपेश जी से ही ज्ञात हुआ कि यह परिवर्तन इंगलैंड से लौटने का परिणाम है। जब कि अब ऐसा नहीं रह गया है।

फिर कार्यक्रम समाप्त होने पर हम चित्र-गृह से बाहर आ गये। मैं अपने घर जाना चाहता था, परन्तु बच्चन जी से कह कर और वे दस-बारह से घिरे बातें कर रहे थे। कोई कुछ पूछ रहा था कोई कुछ। अचानक जैसे उन्हें मेरा ध्यान आया और वे पूछ बैठे—"हृदय कहाँ है?" वहाँ खड़े सब एक दूसरे को देखने लगे, जबकि मैं उनसे चार कदम हटकर पीछे ही खड़ा था। उनका प्रश्न मैंने भी सुना और अच्छा लगा। लेकिन प्रश्न जिनसे पूछा गया था वे मुझे नाम से नहीं जानते थे। मेरे मन में आया स्वयं बढ़ कर आगे हो लूँ। तभी किसी ने पूछा—"कौन हृदय?" और उन्होंने अपनी छाती की ओर इशारा कर कहा—"मेरा हृदय, मेरा!" तभी उधर गोपेश जी निकल आये और उन्होंने मुझे बुला लिया।

आज उन दिनों की स्मृति से एक ऐसी पीड़ा मन को छूने लगती है कि हम जिस पीढ़ी के हैं, यह पीढ़ी वैसी क्यों नहीं? यहाँ तो प्रत्येक कलम पकड़ने वाला अपने को अलौकिक ही माने बैठा है और दूसरे को सम्मान इसलिए भी देना नहीं चाहता कि शायद इसका अपना सम्मान कहीं कम न हो जाय, उसके स्वत्व पर कहीं आँच न आये।

उसी दिन हम अम्बिका जूट मिल्स चले गये। मिल के बँगले हुगली के तट पर बनाये गये थे। शाम हो रही थी। बच्चन जी के साथ गोपेश जी और मैं—साहित्यकार अथवा जिनका साहित्य से सम्बन्ध हो, वे हमीं थे। बाकी यहाँ के व्यापारी, श्रद्धालु एवं रसिक, और तत्पश्चात गोष्ठी जम गई। गोष्ठी भी जैसे घर का वातावरण। वहीं एक स्थूलकाय व्यक्ति थे—उनकी स्मृति से मैं प्रायः हँसने लगता हूँ। सोचा होगा, मैं भी कुछ पूछ लूँ, और नहीं तो काव्य-प्रेम तो प्रदर्शित हो ही जायगा।

पहले तो श्रीमान् जी आस-पास के लोगों से⋯⋯"के काम करे हैं, के तनखाह पावे हैं?" पूछते रहे। फिर बच्चन जी की ओर मुड़कर बोले⋯⋯"बच्चन जी अपनी वह कविता एक बार सुना देते।" और बच्चन जी कि जैसे उस व्यक्ति की बुद्धि और रसज्ञता की परीक्षा ही लेने पर तुले हों⋯ "कौन सी कविता?" जाँचते ही रह गये। जब कि वह आदमी⋯⋯"अरे⋯⋯अरे भाई अच्छी सी तो लाइन है (एक ओर मुड़ कर) थाने आवे हैं के, के बोलूँ भया, बड़ी चोखी कविता थी।" और तब तक जाने उस व्यक्ति को उलझा जानकर, जाने बात बदलने के ख्याल से या जैसे भी हो बच्चन जी ने एक कविता सुनाने की घोषणा की। जब कि अभी एक पंक्ति ही पढ़े होंगे कि वही व्यक्ति बोल पड़ा—"हाँ, हाँ यही, यही" और अब सभी

उपस्थित लोगों के साथ बच्चन जी भी हँस पड़े—बड़ी ही मुक्त हँसी, बेलौस। फिर उन्होंने न तो वह कविता पूरी की और न आगे ही सुनाई। अब भोजन का समय हो गया था। हमें भोजनोपरान्त अपने-अपने घर भी जाना था। विलम्ब ही का ख्याल कर, शायद कोई और हलका प्रसंग हो मुझे स्मरण नहीं, याद तो केवल इतना है कि खाना जल्दी खाने और शीघ्र वहाँ से चल पाने के लिए बीच की बाधाओं को इंगित कर बच्चन जी ने एक कथा सुनाई। शुरू करते ही वे मेरी ओर मुड़े और फिर कुछ संकोच का अनुभव करते हुए ही बोल गये—"एक पठान किसी वेश्या के यहाँ गया। वह लगी हाव-भाव व्यक्त करने। पान और अन्य उपकरण सँजोने। वह जल्दी में था, बेचारा कह पड़ा—देखो मैं यह सब नहीं माँगता, आया है पैसा देगा, करेगा और चला जायगा।" लेकिन यह कथा केवल वही तीन-चार सुन रहे थे जो बच्चन जी के बिल्कुल निकट बैठे थे। इससे चाहे कोई भी बात ऐसी न बने जो असाधारण हो वरन् यह कि बच्चन जी उसी प्रकार व्यक्ति हैं जैसे मनुष्य होते हैं; सुसंस्कृत, मुक्त और कुंठाहीन।

वैसे अप्रासंगिक ही—पर कुछ समीक्षक उन पर पलायन अथवा व्यक्ति-निष्ठता का जो आरोप लगाते हैं उन्हें कौन समझाये कि देश की समृद्धि की लालसा उनमें उतनी ही अधिक है जितनी किसी भी बड़े राष्ट्र-प्रेमी में हो सकती है। यदि उन्होंने अपना रोना रोया है, तो बंगाल के अकाल से दुखी और त्रस्त होकर—प्रदेश विशेष की जनता की अकर्मण्यता पर क्रोधित होकर उनमें साहस ही नहीं भरा है, एक ऐसा मार्ग भी दिया है जो आत्म-शक्ति है, शाश्वत और चिरन्तन है। राष्ट्र पिता की मृत्यु का दर्द उस व्यक्ति की तुलना में अधिक किस देश-प्रेमी को हुआ होगा? औरों ने भाषण दिये, आँसू बहाये और उसने अपने खून से 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' खिलाये। खैर--

आप शायद नहीं जानते हों कि छायावादी युग के केश-विन्यासी कवियों से प्रभावित होकर, विशेषकर पंतजी से बच्चन जी ने बाल भी बढ़ा लिये थे। प्रयाग में हिन्दू-मुस्लिम दंगे की आशंका जान और एक दिन शोर सुन हाथ में लोहे की छड़ पकड़े घर के द्वार पर भी खड़े थे। लेकिन सौभाग्य कि वह कुकर्म, उसकी कुमंत्रणा फलीभूत नहीं हो पायी।

तात्पर्य यह कि बच्चन जी के काव्य मात्र को पढ़कर और वह भी संवेदना या सहृदयता के अभाव में पूर्वाग्रह लिये हुए, न तो कोई उन्हें; उन्हें क्या किसी भी रचनाकार को—पहचान सकता है और न उसकी उक्तियाँ सत्य ही होंगी। शायद हिन्दी के वर्तमान कवियों में सब से अधिक इस प्रवृत्ति का शिकार हरिवंश राय बच्चन को ही होना पड़ा है।

वे पैसे के लालची हैं, विना अग्रिम हिसाब चुकाये कवि-सम्मेलनों में नहीं जाते, उन्होंने मात्र अपने दुःख और सुख का आलाप किया है, वे शराब के प्रेमी हैं क्योंकि उन्होंने "मधुशाला लिखी हैं--लेकिन इन सभी बातों के पीछे या तो कोई निश्चित सिद्धान्त है जिनसे उनका आलोचक परिचित नहीं या उस आलोचक की बुद्धिहीनता या वेहयापन भी है कि संदिग्ध बातों को भी जोर से प्रचारित करता है। आलोचक के ऐसे ही व्यवहार या फतवे की ओर संकेत कर उन्होंने लिखा है--"आज जो ऐसी बातें कह रहे हैं, उन्हीं के बाप-दादों ने जब 'मधुशाला' निकली थी तो कहा था, 'यह मस्ती का राग अलापने का युग नहीं है, 'निशा-निमंत्रण' निकला तो कहा था, यह रोदन-क्रदन का युग नहीं है, 'सतरंगिनी' निकली तो कहा था, यह प्रेम के तराने का युग नहीं है और उन्हींके बेटों-भतीजों ने 'प्रणय-पत्रिका' निकली तो कहा था, यह तो बीते युग की बातें हैं।" (आरती और अंगारे की भूमिका पृष्ठ १६)

यह कलकत्ते का 'सोसाइटी' चित्र-गृह है। हाल श्रोताओं से भरा है—कवि सम्मेलन का आयोजन। मंच पर हैं डा० बच्चन, डा० सुमन, भवानीप्रसाद तिवारी और नीरज। सन्-सम्वत् भूलता हूँ, शायद १९५७ ई०।

नीरज जी को कविता पाठ करना है। वे फरमाते हैं—"भई यहाँ तो अपनी रचनाएँ सुनाता-सुनाता अब मैं बुड्ढा हो चला"—और फिर उनके "ताले की चाभी" खो जाती है, वेचारे परीशान हैं। वैसे परीशान श्रोता भी हैं कि आखिर दरवाजा खोलो कुछ तो और मिले.......हम तो भीतर घुसकर कुछ देखने, कुछ पाने आये थे और तुम हो कि दरवाजे पर ही बैठे ताली खोज रहे हो। लेकिन मजे की बात कि अब बच्चन जी को कवितायें पढ़नी हैं, वे भी कुछ बोलकर शुरू करें यह आवश्यक तो नहीं फिर भी—"मित्रो, यदि मेरे आगे के जनमे नीरज जी बूढ़े हो गये तो समझ लीजिये मैं कब्र से बोल रहा हूँ।" हाल ठहाकों से गूँज उठा है और लोगों का हँसते-हँसते पेट दुखने लगा है।

यहीं मुझे फिर 'मधुशाला' याद आ गई है। लोग उस पुस्तक को करीब २०-२५ वर्षों से पढ़ रहे हैं, सुन रहे हैं, फिर भी उसमें ऐसा क्या है जिसके बार-बार श्रवण करने पर भी मन अघाता नहीं—तोष. नहीं होता। किन्तु अब बच्चन 'मधुशाला' के नहीं 'आरती और अंगारे' के बच्चन हैं। उन्होंने 'मधुशाला' से राह पकड़ निरन्तर बढ़ते हुए अनेक मंजिलें पार की हैं........वे अपने नये स्वर, नये शिल्प और पथ के नये दृश्यों को जनता तक पहुँचाना चाहते हैं......

भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका
लिखनेवाली ओ पाषाणी
माना मैंने, पलक उठाकर—
देख नहीं मुझको पाओगी
किन्तु न था विश्वास कि मेरी
बोली को भी बिसराओगी
भोली, अपने निर्माता को—
ऐसे भूल नहीं जाते हैं
क्या कहलाओगी फिर मुझसे
पूर्व-जन्म की पूर्ण कहानी ?

—आरती और अंगारे

परन्तु श्रोताओं को 'मधुशाला' 'मधुशाला' की रट लगाते, तालियाँ पीटते देख मुझे अपने प्रथम अनुभव-ज्ञान की स्मृति से संकोच होने लगा है। 'मधुशाला' जिसे पढ़कर हिन्दी के आलोचकों ने 'हालावाद' जैसा एक वाद ही खड़ा कर दिया था। मधुसेवी, बच्चन जी को अपना मसीहा मान बैठे थे। लोग—बने रहें ये पीने वाले, बनी रहे यह मधुशाला'—गाते और कप, गिलास या कुल्कड़ खाली करते जाते। बेनीपुरी ने पटने में 'मधुशाला' का प्रभाव देखा तो बच्चन जी को गोली मार देने की धमकी दी—लेकिन मिलने पर रसगुल्लों से स्वागत किया। ('कवि सम्मेलनों के कड़वे-मीठे अनुभव'—बच्चन, साप्ताहिक हिन्दुस्तान) लेकिन मजा तो यह कि 'मधुशाला' के उद्बोधक ने होठों से कौन कहे हाथों तक से न कभी मदिरा का पात्र छुआ न उसके सेवन की ही छूट दी। वरन् प्याला, हाला, साकी और 'मधुशाला' के प्रतीकों द्वारा जीवन, जगत, धर्म, आचार, और ऐसे ही अनेक पक्षों का नया अर्थ बोध कराया, उसकी समीक्षा की, जीवन के स्वरूप और मनुष्य के नये-मूले-कर्तव्य-पथ का मार्ग खोला, उसका ज्ञान कराया। बच्चन को 'मधुशाला' का गायक मानकर उन्हें 'बद' या 'नेक' नाम करने वाले तथाकथित ज्ञानाचार्यों को फुर्सत ही कहाँ थी कि उनकी पूरी बात सुनते—

मैं कायस्थ कुलोद्भव मेरे—
पुरुषों ने इतना ढाला
मेरे तन के रोम-रोम में
पचहत्तर प्रतिशत हाला

और उसी वंश—परम्परा से मिली खुमारी के आधार पर उन्होंने अपनी अनुभूतियों का अभिव्यंजन किया। इसे सही अर्थों में क्या वही नहीं समझ सकता जिसका संस्कार काव्य-संस्कार युगों पुराना हो? और वहीं एक प्रश्न कि क्या यह कवि की सबसे बड़ी सफलता नहीं है कि अपने-अपने मानसिक स्तर के अनुकूल पाठक और श्रोताओं ने उससे विभिन्न अर्थ ग्रहण किये?

यह दिल्ली है—श्री रामधारी सिंह की दिल्ली, राष्ट्रकवि और नवीन की दिल्ली। हिमालय को जगाने वाले कवि ने भारत के रेशमी नगर में नेता का रूप धारण तो किया, परन्तु जब पुरानी यादें जगीं तो बोल पड़ा—

हो गया एक नेता मैं भी तो बन्धु सुनो
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूँ

—दिनकर

परन्तु क्या दिल्ली के; मात्र राजधानी के रेशम पहनने से देश की समृद्धि की योजना पूरी हो गयी?—वही आगे गाता है—

जब तक न देश के घर-घर में रेशम होगा
तब तक दिल्ली के तन पर भी खादी होगी—

—दिनकर

अब चलिये कुछ क्षण बच्चन जी की दिल्ली में बिता आयें—सिंधिया हाउस (दिल्ली) के तीसरे तल्ले में बच्चन जी से मिलने आया हूँ। शेक्सपियर रंगमंच की स्थापना का प्रारम्भ उन्हीं के एक नाटक से होगा--यहाँ रिहर्सल चल रहा है। बच्चन जी ने सुबह यहीं मिलने को कहा था। यहाँ बच्चन जी हैं, तेजी बच्चन जी और नाटक के अनेकानेक पात्र। रिहर्सल से थक जाने पर लोग मक्के (जनेरा) का चबैना और चाय का नाश्ता कर रहे हैं। यह सामग्री बच्चन जी के घर से आयी है। मुझे मक्के का भुजना देखकर बलिया की, घर की याद आ गई है और मुँह में पानी भी। तो क्या बच्चन की दिल्ली भारत की दिल्ली नहीं है?--क्योंकि उन्होंने बादलों से तो यही कहा था--

बस दिल्ली पर ही बरस न,
ओ घन कजरारे,
ओ मतवारे,
ओ मत मारे

दिल्ली से पूरव, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन भी
इस बड़े देश के खेत खड़े,
इस बड़े देश की क्यारी है,
जिनको मेहनत में गोड़ा है,
मिट्टी का ढोंका फोड़ा है,
जिनमें श्रम-सीकर बीजों को
छितराया है
जिन पर फैले आकाश पटल को
आशाओं से नापा है,
जिन पर करुणा की दृष्टि-वृष्टि
करने को देवी-देवों का
मुँह ताका है।
तू उनको आज निराशा न कर
तू उनको हत-विश्वास न कर
यह है जरूर, मगरूर,
यहाँ जो तू बरसा
उसकी होगी देशी-परदेशी
छापों के ऊपर चर्चा,
पर तुझको विज्ञापन से क्या ?

तू भूल न तू
मिट्टी के खेतों का सिंचक
तू सिर्फ अकिंचन पानी है।
मत व्यर्थ बरस तू
कागज पर, अखबारों पर
जा, न्योछावर हो—
सूखे खेत कछारों पर।

हाँ, मुगल गार्डेन
औ उसके छोटे-मोटे—
संस्करणों में
अंग्रेजी कलि-कुसुमों की जो रंगीनी है
जो खुशबू भीनी-भीनी है

उस पर तू अपने
कितने अश्रु गिरायेगा ?
उनको गिनती के लोग—
देख कर खुश हो लें
पर दूर-दूर से उनको केवल
सूँघ-सूँघ कर
देश नहीं जी पायेगा।
तेरे नीचे,
तेरे ऊपर
जो हैं निर्भर
उनके अन्दर अनुताप समझ
उनके अन्तर की बात समझ
उनसे जब लेना-देना हो
आवश्यकता, औकात समझ
बस दिल्ली पर ही बरस न
ओ घन कजरारे,
ओ मतवारे,
ओ मतवारे,

यह रही बच्चन जी की मक्के के भुजना और चाय वाली दिल्ली, उनके बादलों की दिल्ली। लेकिन सिंधिया हाउस के नाटक-रिहर्सल में सब लोग फिर काम में जुट गये हैं।

तेजी बच्चन मुख्य नायिका की भूमिका में हैं।

निर्देशक हैं आकाशवाणी दिल्ली के वीरेन्द्र नारायण (नाम कहीं गलत न हो) साथ ही बच्चन जी भी बाज़ मौकों पर कुछ न कुछ संकेत देते जा रहे हैं। लेकिन तेजी जी ने इस बार भी वही भूल की। बच्चन जी, देखिये कुछ रुखाई से बोल गये हैं। परन्तु कहीं तेजी जी बुरा न मान जायें—डियर, ऐसी क्या बात है, चाय पीलो, लाओ जी एक चाय।" और अब शायद बच्चन जी की परिवारिक व्यवस्था सौहार्द और स्नेह के सम्बन्ध में कुछ कहने को—शेष नहीं रह जाता।

मेरे ही जैसे बच्चन जी की बाहरी मस्ती, काव्यगत मस्ती को देख बहुतों में उनकी मस्ती या बेलौसपने को लेकर भ्रम है। लेकिन वे बाहर जितना मस्त

हैं भीतर से उतने ही अनुशासन-प्रिय, संयमी। आफिस की घड़ियाँ आफिस की, मित्रों से मिलने की अवधि मित्रों की, परन्तु वहीं लिखने-पढ़ने के वक्त दुनिया की सारी झंझटों से निरपेक्ष। उन्होंने अपने दैनिक जीवन को समय के अनेक खानों में बाँट रखा है जिसका पालन मशीन की तरह करते हैं। उनका यह संयम कवि को भावना-लोक और "मूड" के नगर का निवासी मानने वालों को खटकेगा, अकवि जैसा लगेगा; परन्तु ये वे लोग हो सकते हैं जिन्हें कैशोर्य की सीमा से छुट्टी नहीं मिली अथवा जो न तो प्रौढ़ता के कायल हैं न रचना-प्रक्रिया से परिचित। अब बस इन बातों से चाहे और कुछ भले ही न ज्ञात हो; इतना तो है ही कि बच्चन जी में न कहीं बनावट है न गुरुडम जमाने की इच्छा—या दूसरों पर झूठ-मूठ में रोब डालने की प्रवृत्ति। अपितु उनका व्यक्ति भी उतना ही सहज और सरल है जितना उनका कवि। और उन्होंने भी यदि आचार्यों की पद्धति का गुरुडमी अनुसरण किया होता तो शायद—

मैं छिपाना जानता तो जग मुझे
साधु समझता
और
समझाते मुझको हैं मुझको—
कुछ न समझने वाले—
—कहने की आवश्यकता ही नहीं होती।

१८३५

★★

૧૫ દિવસ : આ પુસ્તક વધુમાં વધુ ૧૫ દિવસ માટે રાખી શકાશે.

ગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદ ગ્રંથાલય

અમદાવાદ - ૯